पुरुषार्थ
आषाढ़
१९९१
सम्पादक—
रामलालजी तिवारी
शान्तिप्रसादजी शुक्ल एम० ए०
भाग १
सं० १
वार्षिक मूल्य ३)
एक अंक का ।-)

विषय-सूची

पंचाक्षरी महाविद्या

तप्तचामीकरप्रख्या पीनोन्नतपयोधरा ॥
चतुर्भुजा त्रिनयना बालेन्दुकृतशेखरा । पद्मोत्पलकरा सौम्या वरदाभयपाणिका ॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता । सितपद्मासनासीना नीलकुञ्चितमूर्द्धजा ॥
अस्याः पञ्चविधावर्णाः प्रस्फुरद्रश्मिमण्डलाः । पीतः कृष्णस्तथा धूम्रः स्वर्णाभो रक्त एवच ॥

— शिवपुराण, वायुसंहिता, उत्तरार्द्ध, अ० १३, ४०-४३ ।

यह तप्त सुवर्ण के समान पीत रंग के पीन और ऊँचे पयोधर वाली, चार भुजा, तीन नेत्रवाली (द्वितीया के) चन्द्र को मस्तक पर धारण करनेवाली, पद्म (कमल) दल हाथ में लिये, मनोहर, वरद और अभय हाथवाली, सर्व लक्षणों से परिपूर्ण सब आभूषण पहने, श्वेत पद्म (कमल) के आसन पर विराजमान, नील कुञ्चित (घूँघरवाले) केशों से युक्त है। इसके सूर्यमण्डल के समान चमकते हुए पाँच वर्ण हैं। वह पीत (पीला), कृष्ण (श्याम), धूम्र, स्वर्णाभ (तपे हुए सोने के समान) और रक्त (लाल) वर्ण (मुखारविन्द) वाली है।

'शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः।
पुरुषार्थः शिवः सर्वं शिवादन्यन्न किञ्चन' ॥

पुरुषार्थ

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ प्रवर्तिनीम्
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः।

कालिदासः

भाग १ } गोंडा, आषाढ़ पूर्णिमा, १९९१ { संख्या १

आचार्य श्रीयुत पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के द्वारा प्रेषित

शुभेच्छा

दौलतपुर, (रायबरेली)
८ जून, १९३४।

............मुझ में अब लिखने की शक्ति नहीं। यह चिट्ठी लिखना भी भारभूत हो रहा है। मुझे माफ़ी दीजाय। न दी जा सके तो स्तुतिकुसुमाञ्जलि का यह श्लोक पुरुषार्थ में कहीं पर, मेरे नाम, बतौर प्रेषक के, दे दिया जाय।

श्रेयः प्रयच्छतु परं सुविशुद्धवर्णा, पूर्णाभिलाषविबुधाधियवन्दनीया।
पुण्या कविप्रवर वागिव बालचन्द्र, चूड़ामणेश्चरणरेणुकणावली वः॥

समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली, सब प्रकार के दोषों से रहित अक्षरावली (वर्णों) से गुम्फित और विद्वद्वरों द्वारा आदरणीय, कवि श्रेष्ठ की उक्ति (वाक्) जिस प्रकार वास्तविक कल्याण देती है, वैसे ही भक्तों की सब मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली, देवराज इंद्र की भी वंदनीय, सुन्दर और विशुद्धरंग (वर्णों) की, द्वितीया के चन्द्र से भूषितभाल वाले श्री शंकर भगवान् के चरणों के रेणुकणों की पाँति (अवली) आप लोगों को परम श्रेय प्रदान करे।

परम पुरुषार्थ

(लेखक—श्रीपरमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्री १०८ श्री स्वामी जयेन्द्र पुरी जी महाराज (मण्डलेश्वर)।

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वकृद्विश्वभुग्विभुः ।
विश्वात्मा विश्वमायस्त्वम् विश्वक्रीड़ारति प्रभुः ॥ १ ॥
वन्ध्यापुत्र समौ नूनम् धर्म मोक्षौ मतौ खलु ।
प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्यम् चार्वाकमते यतः ॥ २ ॥
कामार्थाविव पुरुषार्थौ लोकसिद्धौ हितौ यतः ।
न धर्मे न च मोक्षे वा पुरुषार्थत्वः सम्भवः ॥ ३ ॥
धर्ममेवाहि पुरुषार्थं जैमिनीया वदन्ति हि ।
कामाद्यो हि सर्वेऽपि धर्ममूला मता यतः ॥ ४ ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां पुरुषार्थत्वं परे जगुः ।
सर्वेषामेव ह्येतेषाम् कृतिगोचरता यतः ॥ ५ ॥
भक्तेरपि पुरुषार्थत्वमपरे प्रतिपेदिरे ।
प्राकृतत्वात्तन्न सम्यगिति वेदविदो विदुः ॥ ६ ॥
स्वशरीरे स्वयंज्योति स्वरूपं परमार्थिकम् ।
पुरुषार्थं प्रपश्यन्ति वेदसिद्धान्तपारगाः ॥ ७ ॥

स्वकृतविचित्रयोनिषुविशन्निवहेतुतया तरतमतश्च कास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथा स्वमूष्यं वितथं तव धाम समं विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव। एक रसम् ॥ ८ ॥
न यत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाश्यते न वान्ति वाताः सकलाश्च देवताः ।
स एष देवः पुरुषार्थभूतः स्वयं विशुद्धो विरजः प्रकाशते ॥ ६ ॥
अज्ञानमेव न कुतो जगतः प्रसङ्गो जीवेशदेशिकविकल्पकथातिदूरे ।
एकान्त केवलचिदेकरसस्वभावे ब्रह्मास्मि केवलमहं पुरुषार्थरूपम् ॥ १० ॥

शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः ।
पुरुषार्थः शिवः सर्वं शिवादन्यन्न किञ्चन ॥ ११ ॥

पुरुषार्थ—जीवका अर्थ-प्रयोजन, इष्ट, मतलब, कर्तव्य ये सब शब्द समानार्थक हैं। "यमर्थमधि कृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्" (न्यायसू० २४ अ० १)

जिस मतलब के लिये जीव प्रवृत होता है उसका नाम प्रयोजन है।

"यदवगतं सत् स्ववृत्तितयेष्यते तत्प्रयोजनम्" "तच्च द्विविधं मुख्यं गौणं चेति तत्र सुखदुःखाभावौ प्रयोजने तदन्यतर साधनं गौणं प्रयोजनम्" (वेदान्त परिभाषा०) अर्थात् जिसको प्रयत्न करके यह पुरुष स्वयं चाहता है, वह प्रयोजन एवं पुरुषार्थ है। सो दो प्रकार का है। मुख्य और गौण; तहाँ सुख एवं दुःखाभाव मुख्य प्रयोजन हैं और इसके साधन को गौण प्रयोजन कहते हैं। प्रयत्न, पुरुषकार, पौरुष, हिम्मत, उद्योग, पुरुष का काम ये शब्द भी पर्य्यायवाचक हैं। अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की प्रवृति में जो उद्देश्य लक्ष्य है वही मुख्य पुरुषार्थ है। प्रत्येक प्रवृति में सम्पूर्ण जीवों को लक्ष्य क्या हैं इसका विचार करने पर सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृति ही लक्ष्य निश्चित होता है। क्योंकि सम्पूर्ण जीव सुख और दुःखाभाव को ही चाहते हैं। देखिये उद्भिज् जाति के जो वृक्षादिक जीव हैं इनका लक्ष्य सुख की प्राप्ति दुःख

की निवृत्ति ही है ? क्योंकि जलादि सेचन से ये हरे भरे सुखी मालूम होते हैं, और छेदनादिक क्रिया से मुरझाते हुये दुखी मालूम होते हैं। और स्वेदज जाति के छोटे २ कीटों की चेष्टा भी सुख एवं दुःख के अभाव के लिये ही प्रतीत होती है। और अण्डज जो पक्षीगण हैं, इनकी प्रवृत्ति भी सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये ही है। और जरायुजों में कुत्ते बिल्ली आदिक पशुओं की चेष्टा भी सवेरे से लेकर सायंकाल पर्य्यंत सुख एवं दुःखाभाव के लिये ही है। और गाय भैंसादिक पशु भी हरे २ तृणों को देखकर प्रवृत्त होते हैं, और दण्ड उठाये हुये पुरुषों को देखकर भागते हैं; इनकी प्रवृत्ति निवृत्ति भी सुख एवं दुःखाभाव के लिये ही है। और अति ग़रीब दीन हीन मनुष्य पैसे पैसे के लिये चिल्लाते हुये नजर आते हैं; सो इनकी चिल्लाहट का लक्ष्य भी सुख एवं दुःख का अभाव ही हैं। और मजूर लोग सुबह से शाम प्रर्यन्त धेली रुपये की मजूरी करते हैं सो इनकी मजूरी का मतलब भी सुखप्राप्ति और दुख का अभावही हैं। इसी प्रकार अनेक प्रकार की विद्या का अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों का प्रयोजन भी सुख एवं दुःख का अभाव ही हैं। और अनेक प्रकार की नौकरी चाकरी धन्धा भी सुख एवं दुखाभाव के लिये ही हैं। और व्यापारियों का व्यापार हाकिमों की हुकूमत का मतलब भी सुख एवं दुःख का अभाव ही हैं। और बड़ी २ कला कौशल रेल तार वायुयानादि के निर्माण का प्रयोजन भी सुख एवं दुःखनिवृत्ति ही हैं। इसी प्रकार यज्ञ दान जप तपादि वैदिक प्रवृत्तियों का अभिप्राय भी सुख एवं दुखः की निवृत्ति ही हैं। समस्त योग शास्त्र का मतलब भी सुख एवं दुःखनिवृत्ति ही है। एवं च सम्पूर्ण वेद वेदाङ्ग और सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र इतिहास, पुराणादिक विद्या का पर्यवसान भी सुख एवं दुःखध्वंस में ही है। शैव वैष्णवादिक समस्त सम्प्रदायों का एवं अन्य मत-मतान्तरों का भी अन्तिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति ही है। देवी देवताओं की पूजा प्रतिष्ठा मंत्र तन्त्रादिक अनुष्ठान तथा समस्त कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का प्रयोजन भी सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति ही है। एवं गन्धर्व पितर आदित्य वसु रुद्रादिक समस्त देवताओं की प्रवृत्ति का लक्ष्य भी आनन्द की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति ही है। एवं च उद्भिज् तरु गुल्मादिक स्थावर से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितनी भी जीवराशि हैं सम्पूर्ण जीवों का लक्ष्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति ही है। अतएव सांख्य शास्त्र में कहा है—"पुरुषार्थ एव कारणं न केनचित् कार्यते करणम्" अर्थात् सम्पूर्ण कार्य कारण संघातों की प्रवृत्ति का कारण सुख एवं दुःखाभावरूप पुरुषार्थ ही है; और दूसरा कोई भी प्रवर्त्तक नहीं है।

"तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्तेधनसनयः" (छा० अ० १)

यह श्रुति लौकिक गायनादिक प्रवृत्तियों में भी सर्व-दुःख-शून्य आनन्दस्वरूप परब्रह्म (पुरुषार्थ) को ही लक्ष्य बतला रही है। "आनन्दो ब्रह्म वै विजानीयात्" यह श्रुति ब्रह्म को ही आनन्द तथा पुरुषार्थ स्वरूप बतला रही है।

यद्यपि थोड़ी बहुत सुख की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति सम्पूर्ण प्राणियों को सिद्ध ही है। तथापि सम्पूर्ण जीव यथाप्राप्त सुखप्राप्त एवं दुःखनिवृत्ति से सन्तुष्ट न होकर महान् नित्य सुख एवं सर्वथा दुःखाभाव की इच्छा से पुनः २ चेष्टा करता हुआ नजर आता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि-महान् नित्य सुख एवं सर्वथा दुःख का अभाव सब को इष्ट है। यही मुख्य पुरुषार्थ है, यही मोक्ष का स्वरूप है।

सम्पूर्ण जीवराशि को निरतिशय अविनाशी सुख एवं दुःखाभाव रूप मुख्य पुरुषार्थ अभिलषित होने पर भी अज्ञान दशा में इस मुख्य पुरुषार्थ के साधन का ज्ञान नहीं है। इसी लिये साधन अंश में भ्रान्ति होने के कारण वस्तुतः निरतिशय नित्य सुख एवं दुःखाभाव रूप परम पुरुषार्थ का साधन ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त न होकर तुच्छ विषयसुख एवं तुच्छ दुःख-निवृत्ति के साधन में अथवा दुःखों के साधन अनात्म-गोचर प्रवृत्तियों में ही यह जीव रात्रि दिन फँसा रहता है। प्रायः धनादिरूप अर्थ में और विषयभोगरूप काम में ही पुरुषार्थत्व भ्रान्ति से धनादिक के उपार्जन में एवं विषय भोगों में ही अपने अमूल्य जीवन

को नष्ट कर देता है। अतः चार्वाक अर्थ व काम को ही परम पुरुषार्थ मानता है; धर्म और मोक्ष को वन्ध्या-पुत्र की तरह तुच्छ कहता है। अतएव भ्रान्ति से कर्मकाण्ड को ही मुख्य पुरुषार्थ कहता है। अर्थ और काम का मूल होने से, और परमपुरुषार्थ—मोक्ष का ज्ञान द्वारा साधन होने से, धर्म को ही परमपुरुषार्थ समझ कर सकाम कर्मानुष्ठान में ही अपने अमूल्य जीवन को नष्ट कर देता है।

विधिपूर्वक सकामधर्मानुष्ठान से अर्थ और काम की सिद्धि होती है; और निष्काम भाव से-अर्थात् मोक्ष को लक्ष्य लेकर धर्म को अनुष्ठान करने से अन्तः करण शुद्धि के द्वारा प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप का साक्षात् कार होकर मुख्य पुरुषार्थ रूप मुक्ति का लाभ होता है। अर्थात् जैसे दर्पण जब मलिन होता है, या विम्बाकार ग्रहण में अयोग्य होता है, या चंचल होता है, या किसी आवरण (व्यवधान) से व्यवहित होता है, तब उसमें अपना स्वरूप नहीं दीखाता है। अतः दर्पण में अपना स्वरूप देखने के लिये दर्पण शुद्ध मलरहित, स्थिर और आवरण रहित (अव्यवहित) होना चाहिये। तभी दर्पण में अपना स्वरूप (शरीर) स्पष्ट दीखता है।

इसी तरह अन्तःकरण रूप दर्पण में चार दोष होते हैं-मल १ कठोरता २ विक्षेप ३ और आवरण ४ तहाँ निष्काम कर्मानुष्ठान से काम क्रोधादिक पाप-रूप मल का नाश होता है। और विभुत्व सर्वान्तर्यामित्व असंगत्व अद्वितीयत्व निरतिशयसुख-स्वरूपत्व सर्वात्मकत्वादिक भगवद्गुणों के श्रवण मनन से भगवद्विषयक कठोरता नष्ट होकर भगवदाकार अन्तःकरण का परिणाम रूप भक्ति का उदय होता है।

"मद्गुणाःश्रुति मात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनो वृत्तिरविच्छिन्ना भक्तिरित्यभिधीयते" (भा०) सर्वं महमस्मीत्युपासीत तद्व्रतम् तद्व्रतम् (छा०) भक्ति से अन्तःकरण की चंचलता रूप और अन्यथा स्फुरण रूप विक्षेप की निवृत्ति होती है, और ब्रह्माकारवृत्ति रूप भक्ति के परिपाकजन्य अभेद (प्रत्यगभिन्न ब्रह्म) साक्षात्कार से ब्रह्म के स्फुरण में जो आवरण है उस का नाश होता है। तब सर्वथा प्रपंच दुःखरहित निरतिशय आनन्द महोदधि स्वयं ज्योति अद्वितीय शिवस्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। यही परम पुरुषार्थ है।

अद्यास्तमेतु वपु राश शितारमास्तां,
कस्तावतापि मम चिद्वपुषो विशेषः।
कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा,
कुम्भावरस्य नहि कोपि विशेष लेशः॥

॥ इति सर्वं शिवम् ॥

मंगल मय शिव

(ले०—श्रीयुत पशुपति प्रताप "पुरी" तौलिहवा स्टेट, बस्ती)

कलुषित काल कूट कंठ में कराल व्याल,
लिए कालदण्ड भेदी कठिन त्रिशूल हैं।
चर्चित चिता को भस्मराग अँग अँगनि में,
मँगन मसानी गज केहरि दुकूल हैं।
मेटत पै भाग्य-प्रति-कूलता समूलता तें,
मुण्ड माली व्याली भक्त भावनानुकूल हैं।
शंकर भयंकर औ भूत-संगी जानै जग,
रूप के अमँगल पै मँगल के मूल हैं।

पुरुषार्थ

(ले०—श्री डाक्टर भगवानदास बनारस)

अर्थ्यते इति अर्थः, जो चाहा जाय वह अर्थ।

मनुष्य के लिये सब से अधिक इष्ट, अभिलषणीय वस्तु, चाहने योग्य, क्या है-इसका जानना मनुष्य को अपना जीवनकार्य करने के लिये उतना ही आवश्यक है जितना नौका को चलाने के लिये पतवार। इस लिये जब से मनुष्य को भूत भविष्य का ध्यान करने, सोचने विचारने की शक्ति हुई तब से इस विषय पर विचार कर रहा है। पच्छिम में सुक्रात, अफ्लातूं, अरस्तातालीस से भी पहिले से विचार और मत भेद होता चला आ रहा है। किन्ही के मन में निःश्रेयस, "समम् बोनम्", (Sumum Bonum) "हाइयस्ट गुड्", (Highest good) सुख है। अपना, या पराया, या सबका—इस में मतभेद है। और कैसे साध्य है, इसमें और भी मतभेद है। किसी का मत है कि "परफ़ेक्शन", (Perfection) कमाल, उत्तमता, पुरुषोत्तमता, सिद्धता, दिव्यता, पूर्णता—यह सबसे अधिक इष्ट है। पर इस पूर्णता का क्या रूप क्या लक्षण है—इसका पता नहीं चलता। कोई कहते हैं कि "ड्यूटी" (Duty), कर्त्तव्यपालन, धर्माचरण, यही निःश्रेयस है। पर कर्तव्य, सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वावस्थिक, कोई स्थिर नहीं होता। ये ही तीन पाश्चात्य एतद्विषयक विचार के मुख्य प्रकार हैं। इनके अवांतर भेद बहुत हैं।

प्राचीन काल से, पूर्वदेश अर्थात् भारत में, इस विषय पर निर्विवाद निर्णय चला आ रहा है। त्रिवर्ग (अर्थात धर्म, अर्थ, काम) से सिद्ध अभ्युदय ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमों के लिये और मोक्ष (अर्थात् निःश्रेयस, अपवर्ग, निर्वाण) वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के लिये। इस रीति से पाश्चात्य मतभेदों का समन्वय हो जाता है, दीन और दुनिया दोनों बनती हैं। जीवन का लक्ष्य, साध्य, स्पष्ट हो जाता है, अंधकार में दीपक मिलता है। इस दीपक, इस दर्शन, इस "फ़िलासोफ़ी आफ़ लाइफ़" (Philosophy of Life) के बिना आज संसार अंधेरे में भटक रहा है। "पुरुषार्थ" पत्र इस दीपक को उज्वल करने में सहायता दे।

अभिलाषा

(लेखक—श्रीयुत शान्तिप्रसाद शुक्ल, एम० ए०, एल-एल० बी०)

नैश-नभ-भरी भ्रान्ति-अँधियारी नासिबे कौं,
सुधासनी-ससिकला-जोति बिकसी रहै।
क्रन्दन कोलाहल कुकष्ट रव वारिबै कौं,
सुरधुनी-पुन्यध्वनि श्रौननि बसी रहै।
भवत्रयत्रापन-प्रतप्त प्रान पोसिबे कौं,
कलित कृपा की कोर मोंपर लसी रहै।
रोम रोम भर्‌यो रहे नृत्य को अनन्द अरु,
शम्भुपदकंज खिल्यो हीय-सरसी रहै।

॥ श्रीः ॥

"पुरुषार्थ"

(लेखक—साहित्याचार्य, साहित्यवारिधि, श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते, उपाध्यक्ष, राजकीय सरस्वती भवन, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस)

अपने पुरुषार्थ से 'पुरुषार्थ' को प्रकट कर, इस पुण्यभूमि आर्यावर्त्त में अनादि काल से प्रचलित, धर्म, अर्थ काम, मोक्ष और भक्ति-रूप पञ्चविध पुरुषार्थों का मुक्त-हस्त से वितरण करनेवाली, वर्तमान काल में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से अभ्राच्छादित शारद शशाङ्क के समान ईषन्मलिन भावापन्न, अखिल ब्रह्माण्डों के आदि माता पिता, अनादि दम्पति श्री उमामहेश्वर की आराधना का निरर्गल प्रसार करते हुये सारे भारतवर्ष को पुनरपि पुरुषार्थशाली बनाने का बृहदायोजन करनेवाले महा-पुरुषार्थ सम्पन्न 'पुरुषार्थ' के सम्पादक महोदय के अनुरोध से "पुरुषार्थ" के प्रमाङ्क में 'पुरुषार्थ' विषय का ही सामान्य स्वरूप निरूपण करने का प्रयत्न करता हूँ।

यद्यपि 'पुरुषार्थ' विषय बहुत ही गंभीर तथा व्यापक है, उस के एक एक अङ्ग के निरूपण के लिये अनेकानेक शास्त्र बने हैं तो भी सद्गुरुपदेश से, शास्त्रों से, तथा स्वानुभव से 'पुरुषार्थ' के बारे में जो विचार मेरे हृदय में प्रतिभात हैं, उन्हें ही अत्यन्त संक्षिप्त रूप से विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न करता हूँ। साथ ही प्रार्थना भी करता हूँ कि पाठकगण नीरक्षीरन्याय से इस लेख में यदि कुछ गुण देखें तो उन को ही ग्रहण करें।

पुरुषार्थ शब्द का वाच्यार्थ—

पुरुषार्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पुरुषैः अर्थ्यते यः सः पुरुषार्थः। पुरुष जिस को चाहते हैं। अर्थात् इस विश्व ब्रह्माण्ड में उत्पन्न, सचेतन, बुद्धिमान अतएव अपने शुभाशुभ कर्मों का नियन्ता मनुष्य अपने लिये जो चाहता है उसी को पुरुषार्थ कहते हैं। यों तो मनुष्यमात्र की इच्छा विषय कोटि कोटि पदार्थ होने से वे सभी पुरुषार्थ हैं। प्रति व्यक्ति का इच्छा-विषय भिन्न २ होने से पुरुषार्थ भी असंख्येय अपरिमित हो जावेंगे, अतः बुद्धिमानों ने पुरुषार्थ को अधिक से अधिक पाँच विभागों में विभक्त किया है।

पुरुषार्थ के पाँच विभाग

सामान्यतः मनुष्यमात्र किसी साध्य की ही अपेक्षा करता है। साध्य साधनके बिना नहीं मिलता। अतः साधन की भी अपेक्षा की जाती है। एतावता मनुष्यमात्र के लिये दो ही वस्तु अपेक्षित हैं। एक साध्य और दूसरा साधन। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष और भक्ति रूप पञ्चविध पुरुषार्थों में कुछ साध्य ही हैं, कुछ साधन ही हैं, और कुछ साध्य साधन दोनों हैं।

अन्तिम दो अर्थात् मोक्ष और भक्ति ये दो साध्य ही हैं। साध्य का अर्थ फल है। निष्कर्ष यह हुआ कि मोक्ष और भक्ति किसी साधन विशेष के द्वारा प्राप्त होने वाले फल ही हैं। मोक्ष और भक्ति से किसी फलान्तर की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ पर यह सन्देह हो सकता है कि भगवद्भक्ति के द्वारा अनेक प्रकार के फल प्राप्त होने के सैकड़ों उदाहरण पुराणेतिहासों में तथा व्यावहारिक जगत् में भी पाये जाते हैं। तब भक्ति को केवल साध्य ही

कैसे कहा जाता है ? इस का उत्तर यों है कि भक्ति दो प्रकार की है, एक साधनरूपा और दूसरी फलरूपा। जिस भक्ति से अनेक प्रकार के फलों की प्राप्ति कही जाती है वह साधनरूपा भक्ति है। इस भक्ति की पंचविध पुरुषार्थों में गणना नहीं है। यह अज्ञानमूलक स्वार्थमयी भक्ति है। व्यवहार जगत् में ऐसी भक्ति के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। फलरूपा भक्ति मुक्ति के अनन्तर ही प्राप्त होती है। वह भी सभी मुक्तों को नहीं मिलती किन्तु कतिपय भगवान के परमानुरागी भक्तों को ही मिलती है। इस लिये पुरुषार्थ परिगणन क्रम में सब से अंत में इस का उल्लेख है। भक्तिसूत्र में इस का लक्षण इस प्रकार किया है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" सा भक्तिः ईश्वरेपराऽनुरक्तिः। ईश्वर में अर्थात् परमात्मा में परम अनुराग का होना ही भक्ति है।

साधनभक्ति में यह बात नहीं है क्योंकि साधक साधनभक्तिद्वारा किसी साध्य की कामना करता है। अतः वहाँपर साधक ईश्वर के अपेक्षया अपने साध्य फल पर ही विशेष अनुराग रखता है। ईश्वर-भक्ति तो वहाँ पर केवल उपायस्थानापन्न है।

साध्यभक्ति के उदाहरण भी व्यावहारिक जगत् में बहुत ही कम हैं परन्तु इतिहास में इस के अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हैं। नारद, हनुमान, प्रह्लाद आदि इसी भक्ति के प्रधान उदाहरण हैं।

मुक्ति में तो परमात्मा के साथ जीवात्मा अद्वैत उस से अभिन्न हो जाता है। एक एक जलविन्दु—महासागर में मिल जाते हैं। ज्ञानियों की गति यहीं तक है। केवल विशुद्ध ज्ञान द्वारा ज्ञानरूपी परमात्मा को जो प्राप्त करते हैं वे परमात्मा के अखण्ड चैतन्यरूप में लीन हो जाते हैं। उस के बाद उन की पृथक सत्ता ही नहीं रहती। किन्तु जो ज्ञानी परमात्मा के अखण्ड चैतन्यरूप से अभेद को प्राप्त कर के भी 'अहं दासः प्रभुर्भवान्' इस भावना को रखना चाहते हैं वे ही सच्चे भक्त हैं और उन की भक्ति ही चरम साध्यरूपा भक्ति है। चारों पुरुषार्थों के बाद उन्हें भक्तिरूप पञ्चम पुरुषार्थ की उपलब्धि होती है।

एतावता यह सिद्ध हुआ कि पञ्चम पुरुषार्थ रूपा भक्ति साध्य ही है साधन नहीं।

इसी तरह चतुर्थ पुरुषार्थ मुक्ति भी साध्य ही है। मुक्ति का अर्थ है छुटकारा पाना, छुटकारा भी बन्धन से ही सम्भव है। सर्वव्यापक विभुस्वरूपी अहं का साढ़े तीन हाथ परिमाणवाले शरीर में अवच्छिन्न हो कर अपने को परिमित समझना ही बंधन है इसी बंधन से छुटकारे का नाम मुक्ति है। मुक्ति कैसे प्राप्त होती है, इसी विषय का निरूपण करने के लिये सारे शास्त्र प्रवृत्त हुये हैं। मूलसिद्धान्त में एकता होते हुये भी गन्तव्य मार्गमें सम्प्रदाय भेद के कारण कुछ कुछ भेद अवश्य ही हैं। सर्वशास्त्रों के मुक्तिविषयक सिद्धान्तों का निरूपण तो इस अल्पकाय लेख में असम्भव ही है और अनावश्यक भी है। सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्यों में सम्भवतः सर्वप्रथम और जगन्मान्य जगद्गुरु श्री शंकराचार्य जी के अद्वैत सिद्धान्तानुसार सर्वत्र एक अखण्ड सच्चिदानंदमय आत्मा की ही सत्ता है, जीव वास्तव में उस से भिन्न नहीं है किन्तु मायावश अपने को भिन्न समझता है।

'सोऽहम्' इत्याकारक ज्ञान हो जाने से ही जीव को अखण्ड सच्चिदानन्दात्मैकता का भाव होने लगता है। जगत् वास्तव में कुछ नहीं है, ब्रह्म का विवर्त्तमात्र है। पर्यवसान में जीव और शिव की अद्वैतावस्था हो जाती है। इस प्रकार अद्वैतावस्था की प्राप्ति का उपाय "आत्मावाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि श्रुत्यनुसार ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु से वेदान्त महावाक्यश्रवण द्वारा आत्मा का मनन तथा निदिध्यासन करना ही है। यह मार्ग ज़रा कठिन है क्योंकि पहिले तो मुमुक्षा, विषयवैराग्य, शम, दम, आदि साधन सम्पत्ति की आवश्यकता है जो कि करोड़ों जीवों में किसी एक को ही दैवात् प्राप्त होती है। उस के बाद ब्रह्मनिष्ठ गुरु का मिलना, तदनन्तर यथाविधि वेदान्त महा-

वाक्यश्रवण, उस के बाद मनन तथा निदिध्यासन, फिर साक्षात्कार। यह क्रम है। इस क्रम में दुर्भाग्य से यदि किसी अंश में त्रुटि हुई तो सब मामला बिगड़ा। एतावता इस मार्ग द्वारा बहुत थोड़े साधकों की इष्टार्थसिद्धि हो सकती है। अतः परम दयालु आचार्य शंकर भगवान ने अपने अन्तरङ्ग भक्तों के उद्धार के लिये अद्वैतावस्था-प्राप्ति-रहस्य, उपासना मार्ग भी बताया है। इस के अनुसरण से परमात्मा श्री कामेश्वर शिव और परमात्मा शक्ति श्री ललिताम्बारूपी उमामहेश्वर की विशेष उपासनाप्रणाली द्वारा उपासना करने से भी अद्वैतावस्था की प्राप्ति होती है।

आत्मज्ञान का फल 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुत्यनुसार शोकोत्तीर्णता ही कहा गया है। श्रीविद्यारूपी उमामहेश्वर की उपासना से भी 'य एवं वेद सशोकं तरति स शोकं तरति' इत्यादि श्रुतिवाक्यानुसार शोकोत्तीर्णता ही प्राप्त होती है। केवल आत्मश्रवण मननादि द्वारा प्राप्त होने वाली शोकोत्तीर्णता सन्दिग्ध है। कदाचित् हो, कदाचित् न हो। आत्मशक्ति और साक्षात् परमात्मस्वरूपी श्री उमामहेश्वर की विशेष उपासनाप्रणालीद्वारा एकाग्र उपासना करने से शोकोत्तीर्णता अवश्यमेव प्राप्त होती है। श्रुति ने भी 'सशोकं तरति सशोकं तरति' ऐसा द्विबार कह कर इस बात को दृढ़ किया है। उक्त उपासनाप्रणालीद्वारा आत्मज्ञान तथा शोकोत्तीर्णता होना अनुभवसिद्ध है। एतावता भगवान् श्री शङ्कराचार्य जी के मतानुसार अद्वैतावस्थाप्राप्ति ही चरम लक्ष्य है और यही मुक्ति है।

इतर सम्प्रदायाचार्यों के विभिन्नमतानुसार द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत ही चरम लक्ष्य हैं और उन अवस्थाओं को प्राप्त करना ही मुक्ति है। किसी मत में मुक्ति ही चरम लक्ष्य है अर्थात् साध्य है। परन्तु यह देखाया जा चुका है कि मुक्ति और भक्तिरूप चतुर्थ पञ्चम पुरुषार्थ चरम साध्य अर्थात् परम फलरूप ही हैं। उन के दाता औढरदानी घटघटव्यापी श्री उमामहेश्वर ही हैं।

शेष बचे हुये तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम में धर्मसाधन ही है। अर्थ और काम साध्य भी हैं और साधन भी हैं।

धर्म शब्द के अर्थ का संक्षेप में निर्वाचन करना बड़ा कठिन है, क्योंकि विभिन्न दर्शनकारोंने अपने अपने सिद्धान्तानुसार धर्म का पृथक् पृथक् लक्षण माना है। यदि उस दृष्टि से धर्म का विचार किया जाय तो उस के लिये एक स्वतन्त्र निबन्ध की आवश्यकता होगी। इस लेख में मैं धर्म शब्द का सामान्य अर्थ मान कर ही चलता हूं। मनुस्मृति में कहे हुये अहिंसा अस्तेय आदि सदाचार, स्व-स्ववर्णाश्रमविहित कर्माचरण ही यहाँ पर धर्मपद से विवक्षित है। इस प्रकार का धर्माचरण करने से ही ऐहिक तथा पारलौकिक अनेक प्रकार के शुभफल प्राप्त होते हैं। तस्मात् धर्म साधन ही है। किसी कर्म विशेष का साध्य नहीं है।

अर्थ—अर्थात् द्रव्यप्राप्ति। अर्थलाभ विशिष्ट धर्माचरण द्वारा होता है। अतः अर्थ धर्म का साध्य है, और अर्थ द्वारा अनेक सुखोपभोगादि प्राप्त हो सकते हैं अतः वह काम का साधन है।

इसी प्रकार काम अर्थ का साध्य है, क्योंकि अर्थ से ही कामोपभोग सुकर होता है। काम सेवनादि द्वारा जो एक प्रकार की सर्वांगीण तृप्ति किंवा आनन्द प्राप्त होता है उस का काम साधन है, यदि कामसेवन न किया जाय तो वह तृप्ति किंवा वह विशिष्ट आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। एतावता यह सिद्ध हुआ कि अर्थ और काम साध्य तथा साधन दोनों हैं।

सिद्धान्त

धर्म केवल साधन है। अर्थ और काम साध्य और साधन दोनों हैं। मुक्ति और भक्ति केवल साध्य ही हैं। विशेष सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने से प्रतीत होता है कि सर्वान्तर्यामी,

सर्वानुस्यूत, अशेष ब्रह्माण्डों के जनक आदिदम्पती श्रीउमामहेश्वर की सत्सम्प्रदायप्राप्त उपासना ही पाँचों पुरुषार्थों की जननी है, क्योंकि उन की कृपा के विना इतर चारों पुरुषार्थों के मूलधर्म में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है तब अर्थ कामादि की कथा ही क्या है? अतः अनन्यशरण हो कर स्वस्ववर्णाश्रमोचित कर्म करते हुए सद्गुरुसम्प्रदायानुसार श्रीउमामहेश्वर की आराधना करना ही सर्वथा श्रेयस्कर है। स्वयं किसी लक्ष्यविशेष की इच्छा करने की अपेक्षा अपने लिये श्रेयस्करलक्ष्य तक पहुंचाने का भार अपने आराध्यदेव श्रीउमामहेश्वर के चरणों पर ही रख कर निःशङ्क रहना भी एक तरह की जीवन्मुक्तावस्था ही है। यही निर्भयमार्ग है। सद्गुरु और इष्टदेव में अभेदभावना ही सफलता की कुञ्जी है।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा त्रिपुरान्तक! प्रकामम्।
अवधीरित शारदारविन्दौ
चरणौ ते विलयेऽपि संस्मरामि ॥ १ ॥

ॐ तत्सत् श्रीसाम्ब सदा शिवात्मा सद्गुरुः प्रीयताम्।

जीवन-प्रभात

(लेखक—श्री राघवेन्द्र शर्मा त्रिपाठी, "व्रजेश"।)

चाह भरी चाह चिरियान की चहक मंजु,
महक भरै त्यों पुण्य कंजगन गात मैं।
सत्य सुख सुयश त्रिधा ह्वै गंधवाहै गति,
नींदे नैन उन्नति उनींदे होत बात मैं॥
लाभ की ललाई त्यों भलाई मिलै ऊषा ओप,
ओज आवै अंगन दुरासा निसि घात मैं।
ज्ञान भानु उर उदयाचल प्रकासै तव,
होते दिव्य लोचन हैं जीवन-प्रभात मैं।
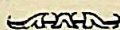
"पुरुषार्थ"

(ले०—डा० श्री बी० भट्टाचार्य, एम० ए०, पी० एच० डी०, बड़ौदा)

मैं ज्यों ज्यों संसार की प्राचीन जातियों की रहस्यमय अध्यात्म विद्याओं का अध्ययन करता हूँ, मेरी यह धारणा पक्की होती जाती है और विश्व के प्राचीन साहित्यों में इस बात का निर्विवाद प्रतिपादन है कि मनुष्य के भीतर एक दैविक ज्योतिःकण है। वही उसकी उत्पत्ति का कारण है एवं वही उसकी युग युगान्तर में विकसित लीला में व्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य में अन्दर देवत्व तथा मनुजत्व के दो विभिन्न तत्त्वों का रहस्यमय समन्वय है। कुछ मनुष्य तो ऐसे मिलेंगे जिनमें मनुजत्व की मात्रा अधिक झलकती है और कुछ ऐसे हैं जिनमें देवत्व की ही मात्रा दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दों में यह कहना उपयुक्त होगा कि मनुष्य दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक तो वे जो नर-श्रेणी के हैं और दूसरे वे जो देव-कक्षा के हैं। एक ओर जहाँ इस जगत् में ऐसे नर मिलेंगे जो पशुओं से स्यात् तनिक ही ऊँचे होंगे। वहीं दूसरी ओर हमें ऐसे भी नरश्रेष्ठों का दर्शन होता है जिनकी प्रभा के सामने देवत्व की भी आभा फीकी लगती है।

बात यह है कि मनुष्यत्व और देवत्व के बीच एक सीढ़ी है और उसकी क्रिया अगणित युगों में इसी उद्देश्य से चलती रही है कि मनुष्य में से निरे मानुषीय भाव, जो पशुत्व से दूर नहीं हैं, दूर करे और उसमें देवत्व के तत्त्वों एवं गुणों को भरे और इस प्रकार मनुष्य को पुरुष बनाकर उसके उद्देश्य पुरुषार्थ को सम्पादित करे। उपर्युक्त नैसर्गिक क्रिया को चाहे हम जानते हों अथवा न जानते हों और चाहे उसके कार्य को समझते हों अथवा न समझते हों परन्तु वह पृथ्वी पर मनुष्य के प्रथम प्रादुर्भाव से ही प्रवर्त्तित और प्रचलित है।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य के अन्दर क्रियाशील इस उच्च तत्त्व की निम्नत्त्व पर प्रभुता प्राप्त करने का नियम क्या है। मनुष्य के अन्दर, मनुष्य के सौभाग्य से, तीन शक्तिसम्पन्न साधन व्यस्थित हैं—शरीर, मस्तिष्क और वाणी। प्रत्येक मनुष्य को इन्हीं तीनों साधनों के द्वारा अपने उद्देश्य को प्राप्त करने का नियम है।

इन तीनों साधनों के सदुपयोग पर ही दैवी गुणों का जागृत होना अवलम्बित है जो दैवी विशेषतायें ही मनुष्य के अन्दर से अधोमुखी एवं "बहुशाखा" मानुषीय वृत्तियों को बहिष्कृत कर देने में समर्थ हैं।

शरीर का विकास कर्म में, वाणी का वचन में तथा मस्तिष्क अथवा मन का मनन चिन्तन और विचार के रूप में होता है। मुझे विश्वास है कि "पुरुषार्थ" के द्वारा प्रथम कार्य यही होगा कि वह मनुष्यों में मन, वाणी और काया की सत्क्रियाओं का संयमन करे। इसी से जीवन में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित होगा और मनुष्य को चिरकल्याण प्राप्त होगा।

पुरुषार्थ-विचार

(लेखक—श्रीयुत् पं० रामलाल जी तिवारी, शास्त्री।)

❀ अथोन्नमोगणेशाय ❀

पुंप्रकृत्योः कथामेव शिवशक्त्योस्तथव च।
यः शृणोति नरो भक्त्या निष्पापस्सोऽभिजायते ॥

(पुरुष-प्रकृति-कथा एवं शिवशक्ति-कथा को जो मनुष्य भक्तिभाव से सुनता, समझता और निदिध्यासन करता है वह पाप से मुक्त हो जाता है।)

यः पुनरेतत् त्रिमात्रे णैवोमित्येतेनैवाक्षरेण
परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजति सूर्य्ये सम्पन्नः।
यथा पादोदरस्त्वचा विनिमुंच्यते एवं हि वै स
पाप्मना विनिमुंक्तः स सामभिरुन्नीयतेब्रह्मलोकं।
स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।
[प्रश्नो०, ४, (५)]

(जो ओम् के द्वारा पूर्ण पुरुष का ध्यान करता है वह सूर्य के तुल्य तेजस् को प्राप्त होता है। और जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुल छोड़ कर अलग हो जाता है उसी प्रकार वह पापवृत्ति से मुक्त हो कर जीवलोक और तेजश्लोक के परे ब्रह्मलोक की उच्चगति को प्राप्त होता है। एवं शरीर में जो अप्रकटरूप से पुरुष अवस्थित है उसका साक्षात्कार करता है।)

पुरुष के उसी अर्थ को उद्दिष्ट रख कर लौकिक जीवन में—

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।

(जो वासनारूपी नदी अशुभ और शुभमार्गों से कुटिल तथा ऋजुभावों से चलने का स्वभाव रखती है उसे शुभमार्ग में ऋजुवृत्ति से नियोजित करे।)

क्योंकि

न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपालिना।
यत् पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥

[जगत् के कोश में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कर्ममार्गानुयायी एवं शुद्ध पुरुषार्थ के लिये अलभ्य हो।]

यद् यथा वर्त्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः।
अन्यथात्वं भ्रमेणे ति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः।

[यह न्याय सब मानते हैं कि जो वस्तु जैसी है वह प्रमाणतः वैसी ही दीखती है, यदि अन्यथा दीख पड़े तो समझना चाहिये कि भ्रम है।]

पुरुष अर्थात् ब्रह्म का सम्पादन करना और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति ही पुरुषार्थ अर्थात् मनुष्य के जीवन का परम उद्देश्य है। यथार्थज्ञान और ब्रह्म की तद्गति से उच्चतर कोई पुरुषार्थ नहीं है! धर्म, अर्थ तथा काम केवल मार्ग के अभ्यास मात्र हैं, मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट है और उसी में जीवनलक्ष्य की परिसमाप्ति है। उस पूर्णज्ञान की विवेचना तथा उस के निरूपण में मनुष्य की बुद्धि और तत्त्वविदों का तर्क आदिम काल से लगा है। पूर्णज्ञान की विधि की मीमांसा करते हुये एवं ज्ञान की अपेक्षा कर्म अथवा सदाचार को ही मोक्षमूल मानते हुये विभिन्न तत्त्वविदोंने एक या एक से अधिक पुरुषार्थ-अंश को मनुष्य का पूर्ण पुरुषार्थ नियत कर के मतमतान्तरों की स्थापना की है। हम, संक्षेप में, यह दिखाना चाहते हैं कि समय समय पर विभिन्न मतप्रवर्त्तकों ने किस प्रकार

पुरुषार्थ तत्त्व का निरूपण किया है। यह विचार हम ऐतिहासिक क्रमबद्धता से चल कर नहीं किन्तु इस रीति से करेंगे कि निम्नकोटि से उच्चकोटि तक पुरुषार्थ का क्रमशः किस प्रकार विकास मतप्रवर्त्तकों के विचारों में पाया जाता है।

प्रथम 'नास्तिक-शिरोमणि' चार्वाक का कहना है कि पुत्र कलत्र आदि के आलिंगन-स्पर्श से होने वाला सुख ही पुरुषार्थ है और परोक्ष में अथवा परलोक में प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुख अथवा तत्त्वज्ञानानन्दादि पुरुषार्थ नहीं है। देह के अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ आँखों के सामने है वही यथार्थ है। उसी का सम्यक् प्रकार से उपभोग और उपयोग करना पुरुष का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। इस प्रकार केवल-प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी का कथन है :—

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥

[न स्वर्ग है, न अपवर्ग है, और यह भी मिथ्या है कि इस लोक के उपरान्त इस आत्मा का अस्तित्त्व कहीं होता है। वर्णाश्रम धर्म कथित क्रियायें कोई फल नहीं दे सकतीं।]

अर्थ और काम ही को पुरुषार्थ मान कर लोगों ने चार्वाकीय मत को विस्तृत किया अतएव उस का दूसरा नाम "लोकायत" भी है।

चार्वाक मत के सुधारक अथवा उस के कुछ विशेष मन्तव्यों के अनुयायी बौद्ध हुये। उन के चार भेद हैं:—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक।

उन के मन्तव्यों तथा पुरुषार्थविचार की झलक इन श्लोकों से मिलती है:—

प्रत्यक्षमनुमाजञ्ज प्रमाणद्वितयं मतम्।
चतुः प्रस्थानिका बौद्धा ख्याता वैभाषिकादयः॥१॥

अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषि-केन बहुमन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्यो ऽर्थो न वहिर्मतः॥२॥

आकार सहिता बुद्धिर्योगाचारेण सम्मता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः॥३॥

रागादिज्ञानसन्तानवासनाछेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्त्तिता॥४॥

[वैभाषिक आदि चार वर्गवाले बौद्ध हैं जो प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं।

वैभाषिक अर्थात् विपर्यास रीति से भी बुद्धदेव के बचनों का समुचित अर्थ समझनेवाले ज्ञानान्वित अर्थ को सर्वोपरि मानते हैं। सौत्रान्तिकों अर्थात् बुद्ध के वचनों को सूत्ररूप में प्रकट करने वालों का मत यह है कि जो प्रत्यक्ष ग्रहणयोग्य अर्थ है वही हमारा ध्येय है, प्रत्यक्षेतर बाहरी बातों से प्रयोजन नहीं।

योगाचार वर्ग वाले आकारमयी बुद्धि के विलास को ही सब कुछ मानते हैं। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये जो शंका का उठाना है वह योग है। गुरु के कहे हुये को स्वीकार करना आचार है। माध्यमिक लोग केवल शून्य को चरम वस्तु मानते हैं। राग द्वेष इत्यादि के ज्ञान से बढ़ी हुई जो वासना है उस के कटने से मुक्ति उत्पन्न होती है। उसे चारों वर्गों के बौद्ध मुक्ति कहते हैं।

माध्यमिकों का मत है कि जो जो वस्तु सत (भावरूप) है वह सब क्षणिक है। जैसे मेघसमूह एक क्षण प्रत्यक्ष दीखता है और दूसरे ही क्षण छिन्नभिन्न हो कर विलीन हो जाता है। सम्पूर्ण सत् पदार्थ इसी भाँति क्षणिक हैं। "अर्थक्रिय करित्वं सत्वं"—सत् वह है जिस का स्वभाव क्रिय करने का हो। बुद्धदेव ने भी ऐसा ही कहा है:—

न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्य्यस्यासम्भवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः॥५॥

यदि सत् मानें तो कारण की अपेक्षा नह

है जैसे व्योमादि (आकाशादि) पदार्थों को कारण की अपेक्षा नहीं है। नैयायिकों के मत में आकाश नित्य है। इस के बनाने के लिये कारण की अपेक्षा नहीं है। उसी प्रकार घटादिकों को सत् मानें तो कारण की अपेक्षा न होनी चाहिये। खपुष्प आदि के समान असत् कार्य का तो कारण होना ही असम्भव है।

बुध्याविविच्यमानानां स्वभावो नावधार्य्यते।
अतो निरभिलिप्यास्ते निस्स्वभावाश्च दर्शिताः॥

बुद्धि से विचार किये जाते हुये पदार्थों का स्वभाव नहीं निश्चय किया जाता है इस कारण से इन पदार्थों के स्वभाव का उल्लेख करना कठिन है। ये सब पदार्थ निस्स्वभाव हैं। इन का अपना कोई स्वभाव नहीं, यह शून्य है यही देखा गया है।

इदं वस्तु बलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्य्यन्ते तथा तथा।

यह वस्तु तो बल से प्राप्त है। इसे न मानें तो भी मानना पड़ता है ऐसा विद्वान कहते हैं। परंतु जैसे जैसे अर्थों की चिन्ता करते हैं वैसे २ वह सब अर्थ विशीर्ण होते चले जाते हैं। अतएव "सब क्षणिक हैं, क्षणिक हैं, दुःख हैं दुःख हैं, स्वलक्षण हैं स्वलक्षण हैं, शून्य हैं, शून्य हैं," इस चार प्रकारकी भावना से मनुष्य परम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है। अर्थात् इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार इन लोगों का कहना है कि केवल प्रत्यक्षवाद से मनुष्य का काम नहीं चल सकता। तर्करीति में भी केवल प्रत्यक्ष का आश्रय लेना स्पष्टतः अपर्याप्त है। परोक्षवाद केवल सारहीन वस्तु नहीं है किन्तु वह सम्भावनाओं का अपरिमित कोष है। जीवन की शृङ्खला को जागृत और हृदयग्राही बनाने का वह एक मात्र मार्ग है। अपनी तर्कप्रणाली में भी इसी कारण बौद्धों ने अनुमान को स्थान दिया और "अनुपलब्धि" और "बन्ध्यापुत्र" की तार्किक युक्तियों से स्वयं चार्वाकीय विचारों को 'अनुमान' पर निर्भर सिद्ध कर दिया। परोक्षवाद का आश्रय लेकर बौद्धों ने नीतिधर्म को मुख्य वस्तु माना और शुद्धाचरण को ही मनुष्य का लक्ष्य और संघातात्मक आत्मा के भौतिक-जीवन-मरण—मुक्ति-युक्त निर्वाणपद को मनुष्य का परम-ध्येय निश्चित किया।

अनीश्वरवाद तथा अकर्तृवाद के तीसरे समूह जैनपंथीजन अर्हत् स्थिति को चरम ध्येय मानते हैं। आत्मा को वे मध्यमपरिणाम, विकारी तथा अनित्य-कल्पित करते हैं। वे "अहिंसा परमोधर्मः" के नियम से आचरण को उच्च स्थान देते हैं एवं सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र्य द्वारा परमपदप्राप्ति का निश्चय करते हैं।

संक्षेपतः नास्तिक मतानुयायी संप्रदायों का लक्षण तथा पुरुषार्थविचार दिखा कर अब हम थोड़े शब्दों में "वेद अपौरुषेय है और वही मान्य है", ऐसे मन्तव्योंवाले दार्शनिक तत्वविदों के पुरुषार्थविचार का वर्णन करते हैं। मोटे ढंग से हम कह सकते हैं कि ये सब दार्शनिक यथार्थज्ञान की खोज तथा उस की प्राप्ति को मनुष्य का लक्ष्य नियत करते हैं। किसी किसी ने, जैसे जैमिनि ने संस्कारमय धार्मिक कृत्यों को प्रमुख माना है और उन के संबन्ध में यह कहा गया है कि मीमांसक का कार्य तो भित्ति को नीचे से उठाना है जिस के ही आधार पर वेदान्त का अपरोक्षवाद सुसंगत प्रतीत होता है। गौतम और कणाद धर्मसम्पादनार्थ ही तत्वार्थ की खोज करते हैं और मनुष्य के उद्देश्य अर्थात् पुरुषार्थ को धर्म के नाम से नियत करते हैं। स्वच्छान्तःकरण के पक्षपाती, तपोनिष्ठ कणाद महर्षि यद्यपि पदार्थ-विद्या-प्रतिपादक दार्शनिक थे तथापि सत्पदार्थप्राप्ति तथा धर्मभावना उन के लिये सब कुछ थी।

विभिन्न तत्वविदों के भाव इतने सूक्ष्म हैं और उन के द्वारा प्रयुक्त शब्द इतने अनेकार्थवाची हैं कि उन की विस्तृत व्याख्या हम यहाँ नहीं कर सकते। उनके द्वारा प्रयुक्त 'धर्म, मोक्ष, ब्रह्म' शब्द बड़े

व्यापक हैं और उन में अन्तर्हित पुरुषार्थ के तात्विक स्वरूपों का विस्तृत निरूपण हम 'पुरुषार्थ' के आगे के अंकों में करेंगे।

जैमिनि(पूर्व मीमांसा) और व्यास (उत्तर मीमांसा—वेदान्त) का मत उत्तम कक्षा का, कपिल (सांख्य) और पतञ्जलि (योग) का मत मध्यम कक्षा का तथा गौतम (न्याय) और कणाद (वैशेषिक) का मत निम्न कक्षा का माना जाता है।

कणाद तथा गौतम के मत में प्रतिष्ठित आरम्भवाद है, क्योंकि वे 'कारण' तत्व का विशेष अनुसन्धान और विचार करते हैं। सांख्य मत में परिणामवाद है—उस में पुरुष के सन्मुख प्रकृति के अनवरतनृत्य की वार्त्ता है जो अन्ततोगत्वा श्रमित होकर पुरुष की इच्छा से पुरुष में लीन हो जाती है। कपिल आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःखों से निवृत्ति को ही पुरुषार्थ निर्णीत करते हैं। निवृत्ति की विस्तृत व्याख्या हम आगे चल कर करेंगे। उन के परिणामवाद का असली मतलब यह है कि एक वस्तु या पदार्थ दूसरे रूप में केवल बदल जाता है—अविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है—उत्पत्ति और नाश किसी वस्तु का नहीं होता।

वेदान्त मत में परिणाम को भी हटा कर विवर्त्त तत्त्व प्रतिष्ठित है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में भासना विवर्त्त है। इसी को अध्यास और मिथ्याज्ञान कहते हैं। केवल अधिष्ठान सत्य माना जाता है। अध्यास को भ्रम भी कहते हैं। भ्रम की उत्पत्ति सादृश्य, संयोग तथा दोष से होती है। सीपी तथा रजत एवं रज्जु और सर्प के दृष्टांतों में सादृश्य का उदाहरण है। रक्तवर्णपुष्प के साथ स्फटिकमणि का रक्तवर्ण दिखाई पड़ना संयोगउद्भूत भ्रम कहा जाता है। नेत्ररोग के कारण जो धवल वस्तुएँ पीली जान पड़ें तो दोषजनित भ्रम कहा जाता है। इसी प्रकार अविद्यादोष से ही ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जगत् की प्रतीति प्रतिष्ठित होती है।

अतएव ब्रह्मतद्गतिप्राप्ति ही परम प्राप्य वस्तु है जिस पर ही मनुष्य की दृष्टि लगी रहनी चाहिये—ऐसा वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है।

इस प्रकार इस लेख में पुरुषार्थ विचार का सिंहावलोकन मात्र किया है। आगे चल कर समय समय पर विस्तृत विचार प्रकट किया जायगा।

शिव के प्रति चेतावनी।

(लेखक—श्री पं० श्यामनाथ जी शुक्ल, 'द्विजश्याम')

बांधि वासुकी सों दृढ़साजो गजचर्म वर्म,
'द्विजश्याम' ढील दिये आपहू पै टूटैगो।
मेरेसँग मेरी भाँति विदित अखण्ड जग,
रावरो सुयश औ प्रताप सब लूटैगो॥
जोम भरी काय कोह मोह की जमाति लीन्हे,
दापभरो मेरो पापपुंज यदि जूटैगो॥
ज्वाल जैहै भड़कि छटकि जैहै भालचंद,
गंग जैहै छलकि जटा को जूट छूटैगो॥

महेश्वर

(ले०—श्री बाबू गौरीशंकर जी गनेड़ीवाला)

❀ ॐ नमः शिवाय ❀

एवं सर्वेश भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ॥ दृश्यते त्वग्र्या बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥ शिवगीता, अ० १०।

यह समस्त जीवों में गुप्त रूप आत्मा प्रकाशित नहीं होता, परन्तु सब में वर्त्तमान् है । श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि करने वाले सूक्ष्म दर्शी पुरुषों को अग्र्या (श्रेष्ठ-मुख्य गुरु-उपदिष्ट-जन्या) बुद्धि से दिखाई पड़ता है, दूसरे मनुष्यों को नहीं दिखाई पड़ता है ।

वेदरूप समुद्र के पारगामी ऋषि लोग भगवान् शिव को क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, अव्यक्त और कालात्मा नामों से कहते हैं ।

क्षेत्रज्ञ पुरुष को कहते हैं प्रकृति प्रधान का नाम है । प्रकृति के सब विकार व्यक्त (प्रकट) कहलाते हैं और प्रकृति तथा व्यक्त के विस्तार का मुख्य कारण काल है। यह चारों परमेश्वर (शिव) के रूप हैं।

कोई आचार्य हिरण्यगर्भ, पुरुष, प्रधान और व्यक्त यह चार रूप शिव के बताते हैं । इस जगत् का कर्त्ता हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा है । भोक्ता पुरुष अर्थात् विष्णु है । मुख्य कारण प्रधान और सब विकार व्यक्त हैं । यह चारों और बुद्धि आदि शिव के रूप हैं ।

कोई शिव को पिंडस्वरूप और जाति स्वरूप कहते हैं । चराचर जगत् के शरीर को पिंड कहते हैं। जाति शब्द उनके रूपों का वाचक है, यथा मनुष्य जाति, पशु जाति इत्यादि । कोई शिव जी को विराट और हिरण्यगर्भ कहते हैं । सम्पूर्ण लोक विराट है और लोक का कारण हिरण्यगर्भ है ।

कोई योगी देवदेव शिव जी को सूत्ररूप कहते हैं क्योंकि सम्पूर्ण लोक मणियों की भाँति उस (शिव) में प्रोत अर्थात् पिरोये हुये हैं ।

कोई कोई महात्मा शिव जी को स्वयंज्योति और स्वयंवेद्य और अन्तर्यामी तथा पर कहते हैं । वह सब जीवों के शरीर में वर्तमान् है इस कारण अंतर्यामी और सबसे उत्तम है इस निमित्त पर कहते हैं । प्रज्ञा, तेजस् और विश्व तीनों शिव जी के रूप हैं इनको ही विराट, हिरण्यगर्भ, और अव्याकृत कहते हैं । और सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत तीनों अवस्थायें भी इनकी वाचक हैं । तीनों अवस्थाओं में वर्तमान् उस तुरीयरूप शिव जी के हिरण्यगर्भ, पुरुष और काल ये तीनों रूप जगत् का सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं । रुद्र, विष्णु, और ब्रह्मा ये तीनों अवस्था शिव की है । इनका ही आराधन करके जीव भुक्ति मुक्ति पाता है ।

कर्त्ता, क्रिया, कार्य्य और कारण ये चारों भी शिव के रूप हैं ।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति शिव जी के रूप हैं । ईश्वर, अव्याकृत, प्राण, विराट, भूत, इन्द्रिय और आत्मा ये सब शिव जी के ही विकार हैं । जैसे समुद्र की तरंगों का जल ही कारण है उसी प्रकार ईश्वर जगत् का कारण है । अव्याकृत प्रधान को कहते हैं । प्राण हिरण्यगर्भ का नाम है । विराट लोक का वाचक है । महाभूत ही भूत कहाते हैं और कार्य इन्द्रिय है । परमात्मा शिव से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । शिव जी से ही पचीस तत्त्व उत्पन्न हुये हैं, जैसे जल से तरङ्ग उत्पन्न होती हैं । परन्तु शिव तत्त्व

पच्चीस तत्त्वों से परे हैं। तत्त्व शिव जी से भिन्न नहीं है, जैसे कटक कुण्डलादि सुवर्ण से भिन्न नहीं हो सकते। शिवादि तत्त्व भी परम शिवतत्त्व से ही उत्पन्न हुये हैं। माया, विद्या, क्रियाशक्ति तथा ज्ञान शक्ति भी शिव से उत्पन्न हुई है जिस प्रकार कि सूर्य्य से किरणें उत्पन्न होती हैं। सनत्कुमार जी से नन्दीश्वर कहते हैं–सब प्रकार से कल्याण चाहते हो तो सर्वात्मा और सर्वाश्रय शिव जी को भजो। उनके बिना जगत् में कोई अन्य दूसरी वस्तु नहीं हैं।
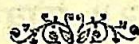
ईश्वर से प्रार्थना

(लेखक—श्री पं० श्यामनाथ शुक्ल "द्विज श्याम")

पसर्यो अंधेरो चारों ओर पीन पातक को,
सुकृत उसास हूँ जुटाये नहीं जूटैगो।
डीठि सुठि ज्ञान ध्यानहू की दीनबन्धु नहीं,
कौनि भाँति छूटि द्विज श्याम सुख लूटैगो।
जन्मन को अरुझ्यो अधिक सुरझावन मैं,
मोसों और अरुझि कुठौर कहूं टूटैगो।
तू है निरद्वन्द, याते त्रिगुन त्रिफन्दन को,
यह द्वन्द बन्धन तूही सों नाथ छूटेगो।

ईश्वर-महिमा

सब मै तिहारो रूप सब मै तिहारी सत्ता,
सब मै तिहारि ही महत्ता दरसाति है।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता, ध्यान ध्येय और धाता तूही,
तेरे विना एकौ सांस आवति न जाति है।
तूही धर्मथापक है, पातक उथापक है,
प्रकृति तुही पै लय होति और लखाति है।
'द्विज श्याम' महिमा महत् है तिहारी नाथ,
अलख अगोचर बखानी नहिं जाति है।

❀ श्रीः ❀

शिवाशिवमयञ्जगत ।

(लेखक—श्री द्वारकाप्रसाद शुक्ल, 'शंकर', अडिशनल सब जज, गोंडा)

आस्तिक मन्तव्य के अनुसार तीनों लोकों का उत्पादक, पोषक और नियामक कोई न कोई अवश्य है। इसमें किसी भी आस्तिक धर्म के अनुयाइयों को संदेह नहीं है। वे नितप्रति अपने समक्ष संसारमें होनेवाली ऐसी घटनाओं और दृश्यों को देखकर, जिनका कोई कारण अथवा कर्त्ता प्रत्यक्ष नहीं ज्ञात होता, किसी उर्दू कवि की भाँति, जिसने चर्ख़ (आसमान) को अनेक प्रकार के अत्याचारों का कर्त्ता मानकर सूक्ष्म विचार द्वारा यह नतीजा निकाला कि हो न हो कोई माशूक़ (प्रियतमा ही) इस नीले रंग के पर्दे में बैठी, ये सब सितमाराई (अत्याचार) कर रही है, इस त्रिलोक के प्रवर्तक के अस्तित्व का अनुमान द्वारा निश्चय करते हैं। वह कहता है—

चर्ख़ को कब था सलेक़ा सितमाराई में।
कोई माशूक़ है इस पर्दये जंगारी में॥

परन्तु आजकल का मानव समाज, जो इस समस्त सृष्टिप्रपंच के आदि कारण, धारक और नियंता को, पाश्चात्य भौतिक विज्ञान की चकाचौंध से उत्पन्न, उसे रुचनेवाले आश्चर्य से जगदीश्वर को भूल चला था और अंधशक्ति (Blindforce) और पदार्थ (Matter) के स्वाभाविक परिणमनशील गुण को स्वच्छन्द और अनियंत्रित सा मानकर इस त्रिलोकप्रवर्तक की अवहेलना करने की ओर अभिमुख होता हुआ प्रतीत होता था, वह इस वर्ष के १५ जनवरी को २ बजकर १५ मिनट पर, ज्योतिषशास्त्रवेत्ताओं द्वारा बहुत पहले से घोषित रोमहर्षक और हृदय दहलानेवाले भीषण भूकम्प से अकस्मात् सचेत होकर अपनी इस सर्वज्ञता के अहंकारमय भौतिक उन्नति की ओर, आस्तिकता के अनादर की पट्टी आँखों पर बाँधकर बड़े वेग की दौड़ में सहसा रुके बिना न रह सका। इस अवहेलना का कारण सिवाय इसके कि परमेश्वर अपने नियमों को भंग करनेवालों को तात्कालिक दंड नहीं देता और दूसरा नहीं हो सकता। क्योंकि दंड द्वारा परिमार्जन का पक्षपाती न होकर, मनुष्यों को निजप्रदत्त बुद्धि और विवेक द्वारा स्वयं अपने सुधारका भार और उत्तरदायित्व, उसने उन्हें षोडशवर्षप्राप्त जान कर एक बुद्धिमान और नीतिनिपुण सत्पिता की भाँति, उन्हीं के ऊपर छोड़ रक्खा है। अतएव निसर्गतः उस को जानने की प्रवृत्ति होती है।

'वह क्या और कैसा है', 'उस ने त्रिलोक की रचना किस निमित्त किया' और 'वह इन लोकों के रहनेवालों से किस प्रकार का रहन सहन और क्रियायें चाहता है' ये प्रश्न अनुसन्धानके लिये विचार क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। इन में से प्रथम और द्वितीय ही प्रश्न इस लेख के विषय से संबंध रखते हैं। अतएव तीसरे प्रश्न के विचार की इस स्थान पर आवश्यकता नहीं है।

"विभूतिंप्रसवन्त्वन्ये मंन्यते सृष्टिचिंतकाः
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता
इच्छामात्रं प्रभोःसृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः
कालात्प्रसूतिंभूतानां मन्यंते कालचिंतकाः
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे
देवस्यैक स्वभावो ऽयम् ...."

(श्री गौड़ पदाचार्य)

इन सब सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उन उन महर्षियों ने प्रबल प्रमाण और युक्तियाँ विस्तृतरूप

से दी हैं। इन मन्तव्यों में से कई एक भ्रमात्मक भी सिद्ध हो चुके हैं। तिस पर भी उन के अनुयायी और माननेवाले अब भी विद्यमान हैं। इन सब का वर्णन इस लेख का उद्देश्य न होने से केवल वही एक सिद्धान्त "क्रीडते भगवान् ...बालः क्रीडनकैरिव," जो निर्विवाद प्रतीत होता है और जिस को इन पंक्तियों का लेखक मानता है, प्रस्तुत लेख का आधार है।

इस विशाल और विचित्र जगत् की सब वस्तुओं और घटनाओं को नियत समय और नियमितरूप से होते दिखाई देने से, इस खेल, नाटक अथवा सिनेमा (Cinema) के खेलनेवाले, सूत्रधार अथवा अनन्त असंख्य चित्रपटों और दृश्यों के बराबर बदलते रहनेवाले का केवल बोध ही नहीं किन्तु विश्वास हो जाता है। इस त्रिभुवन-लीला-नाटक को वह 'नटराज' क्यों किया करता है ? यह विचार जागृत होने पर अनेक भावनायें उत्तर रूप में उपस्थित होती गईं। जब इस सम्बन्धमें यह धारणा मानवहृदय में उदय हुई कि जगदीश्वर त्रिभुवन की रचना करने में, केवल बालक की तरह, बिना किसी हेतु, उद्देश्य अथवा इच्छा के, यह खेल खेला करता है, और इस का कोई अपर हेतु नहीं है, तो 'बालक क्यों खेला करता है ?' इस का निर्विवाद उत्तर जिस प्रकार नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार इस त्रिभुवन-लीला-नाटक के होने का कारण-सिवाय इस के कि यह उसका खेलमात्र है-और कुछ समझ में नहीं आता। फिर इस सिद्धान्त को मनुष्यमात्र क्यों स्वीकार करता है— विचार करने से स्पष्ट हो जाता है। वह अपने दैनिक व्यवहार में देखता और अनुभव करता है कि मनुष्य केवल वही संपादन कर सकता है जिस को उस ने कभी अनुभव कर के प्रत्यक्ष किया हो या जिस को अपने विद्या और बुद्धिबल से प्रत्यक्ष किया जाने का अनुमानद्वारा विश्वास कर लेता है। अनुभव और अनुमान पर आश्रित उस की इस प्रबलधारणा की परिधि का विस्तार यहाँ तक पहुँचा कि वह जगन्नियन्ता को भी अपने ही सदृश शरीरधारी-परंतु एक आदर्श पुरुष से भी दिव्यातिदिव्य और अमित शक्तिशाली-पुरुषोत्तम, परम पुरुष मानने लगा। God made the man after himself. अर्थात् परमात्मा ने मनुष्य को अपने ही अनुरूप बनाया। इसी धारणा से प्रभावित हो कर बालक के खेल के प्रत्यक्ष और उस के खेलने के कारण अविज्ञात और अविज्ञेय होने से, मनुष्य ने जगत्-प्रपञ्च को जगदीश्वर की, बिना किसी उद्देश्य और कारणविशेष के क्रीड़ामात्र मान कर विश्राम पाया।

इस में उस को शान्ति और विश्वास इस हेतु प्राप्त हुये कि वह उस के प्रत्यक्ष अनुभव-बालकों को खेलते देखना—पर आश्रित तथा अनुभवद्वारा समर्थित है।

परमात्मा क्या है और कैसा है ? इस पूर्वकथित प्रथम प्रश्न का उत्तर भी मनुष्य की उपरोक्त धारणा—मनुष्य को परमेश्वर ने अपने अनुरूप बनाया—की नींव पर स्थित है। इसी को साकार रूप में परमात्मा को प्रत्यक्ष करने की उपासनाप्रणाली का आधार मान कर पूज्यपाद महर्षियों ने इस सम्बन्ध में अपने अनुभव और अनुमान प्रकट किये हैं। परन्तु वास्तव में परमेश्वर क्या है और कैसा है ? इस का उत्तर तो वेद जो उस के उच्छ्वास हैं केवल नकारात्मक ही परिचय देते हैं—कि वह अमुक नहीं है, अमुक नहीं है-'नेति', 'नेति' ही कहते हैं। वह है क्या ? उस के संबंध में वेद भी मौन हैं। तब अपर कोई निश्चयात्मकरूप से उस का परिचय देने में कैसे निर्भ्रान्त हो सकता है। इस त्रुटि का एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि "सो जाने ज्येहि देहु जनाई" और तदनन्तर वह 'जानत तुम्हैं तुम्हैं होइ जाई'। इस लिये जैसे:—

गई पूतरी लौन की, थाह सिंधु की लेन।
आपै मिलि आपै भई, बहुरि कहै को बैन॥

उसी प्रकार जो ईशकृपा से उस के पूर्णतत्त्व को जान जाते हैं वह तल्लीन हो जाने के कारण 'वह

कैसा है और क्या है', इस के वर्णन करने के लिये त्रिलोकी में नहीं आते। इस लिये उन के ज्ञान और अनुभव से संसार का कल्याण पूर्णरूप से न हो सका। 'तदपि कहे बिन रहा न कोई' और 'मति अनुरूप' उस के गुणों को गाया है। और विचित्रता यह कि सब ही यह मानते भी हैं कि:—

कैसे अवर्न्य औ पूरन तत्व को,
बुद्धि औ ज्ञानहि के बल पाइये।

....

....

जाको बखानत वेदहु नेति कै,
ताको कहाँ भला क्या बतलाइबे।

उस सर्वेश ने कुछ ऐसा कर रक्खा है कि प्रत्येक मनुष्य को यह सब जानते और मानते हुये भी निज बुद्धि और विवेक के अनुसार उस के सम्बन्धी ज्ञानलाभ के लिये, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भज्याम्यहम्' उस के द्वारा घोषित इस आश्वासन और आशा के सहारे, निज रुचि के अनुरूप, महर्षियों द्वारा सामाधिस्थ अवस्था में दृष्ट और लोकोपकारार्थ कथित उस को मूर्तिमान सा मान कर उस के अनेक रूपों की उपासना से, अपने परम श्रेय को निज पुरुषार्थ से, प्राप्त करना होता है।

अब विचारणीय यह है कि उस उपासना के मूल में क्या है और इस का वास्तविकतत्त्व क्या है? इस संबन्ध में साम्प्रदायिकता तथा तदानुषंगिक भ्रममूलक विद्वेष भी इस विचारपरिधि के अन्तर्गत आ ही जाते हैं। अतएव उपासना के मानसिक, भौतिक और व्यावहारिक— ये तीन विभाग हो जाते हैं।

उपासना का मानसिक अंग

सृष्टि के प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में उपासना की धारणा निरन्तर चली आती है और सदैव चली जावेगी। समय के प्रभाव से इस में अनेक परिवर्त्तन भी हुये हैं और भविष्य में और परिवर्त्तन भी होते रहेंगे।

अब तक महर्षियों ने अपने तप, प्रतिभा और अनुभव से इस पर अनेक सिद्धान्त स्थिर और प्रवर्तित किये हैं। परन्तु श्री शंकरावतार, भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य का अद्वैतवाद सर्वोपरि और पूर्णप्रतीत होता है। भगवान् कपिल का सांख्यमत भी इस के लगभग पहुंचता है। सांख्य के अनुसार 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों अनादि हैं। वेदान्त मतानुसार माया सत्य नहीं है और कैवल्यपद पहुंचने तक इस का नाश हो जाता है। इन दोनों सिद्धान्तों में भिन्नता के मूलकारण 'प्रकृति' और 'माया' के सम्बन्ध में, कुछ साधक-महर्षियों ने जो सिद्धान्त निश्चित किया है, उस को जयपुर महाराजाश्रित, सत्संप्रदायाचार्य, महामहोपाध्याय **श्री ६ दुर्गाप्रसाद द्विवेदी** ने थोड़े ही में किंतु बहुव्यापक, और अमितव्यञ्जक रीति से मुख से इस प्रकार वर्णन करने की कृपा की है।

निरा:तंसारपूर्णादहमित पुरा भासयति यद्वि-
शाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निज कलाम।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुष-
स्तदद्वैतम्वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिलमय॥

मैं उस अद्वैत की वन्दना करता हूँ जो परम शिव और परमशक्ति का निलय करता है। जिस की स्थिति अर्थात् सत्ता का भान तब होता है जब पूर्ण और अन्य किसी भाँति से अवर्ण्य दशा में रहते हुये अहंता-चितिशक्ति- का प्रादुर्भाव अर्थात् क्षोभन उस में होता है। इस स्फन्द के अनन्तर फिर जिस में अपनी अपरिमित कलाओं के पृथक पृथक प्रसार के लिये दो शाखायें—शिव और शक्ति—रूपी निकलती हैं। और जो नामरूप की उपाधि तथा संकोच और प्रसार में बोध होने के लिये स्थिति को भी प्राप्त होता है और अनेक रूपों में (पञ्चदेवों के रूप में) साधकों के समक्ष भासित होता है।
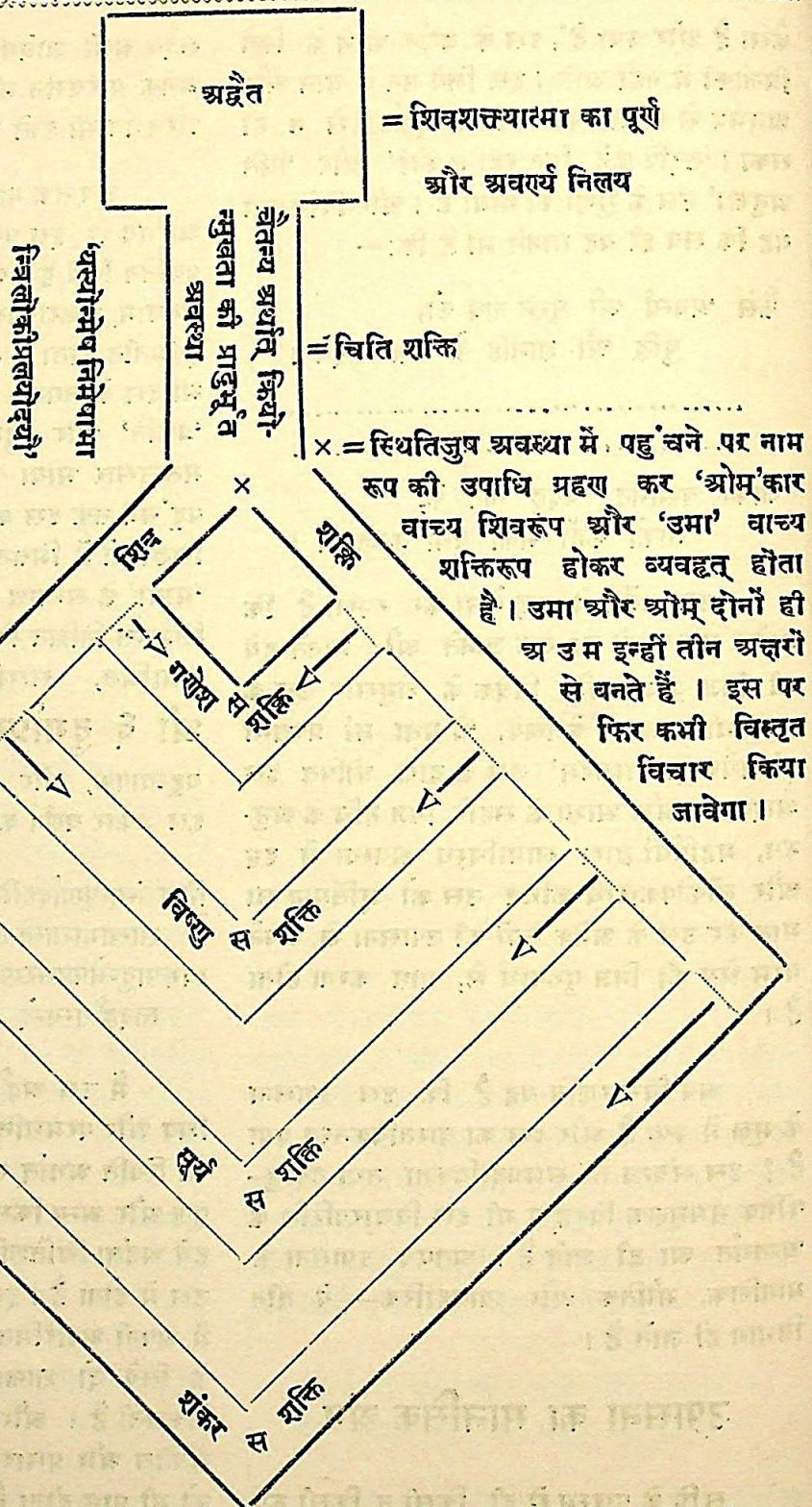
इस प्रतीक (Diagram) से सुगमता से बोध हो जाता है कि इस अद्वैत की ही अवर्ण्यधारा—

(शेष २६ वें पृष्ठ में)

सुख-दुखमय संसार

(लेखक—श्री साहित्याचार्य पं० गयाप्रसाद शास्त्री, वैद्य, "श्री हरि")

प्रेमघन! कैसा यह व्यापार ॥
कहीं बरसते प्रेमसुधा को, कहीं अग्नि अंगार ॥ ध्रुव ॥

❀ ❀ ❀

सूने पड़े रत्न-मणि-मण्डित, कहीं रम्य आगार।
मिलती नहीं, कहीं दीनों को, एक कुटी आधार ॥ १ ॥

❀ ❀ ❀

खिले हुये गम्भीर नीर में, सरसिज कहीं अपार।
कहीं तलफतीं शफरी प्यासी, जल बिन जीवन भार ॥ २ ॥

❀ ❀ ❀

प्रेमि पतंग प्रेमज्वाला में, जला कहीं शतबार।
निष्ठुर दीपशिखा ने जाना, नहीं कहीं वह प्यार ॥ ३ ॥

❀ ❀ ❀

लीलापते! तुम्हारी लीला, सब बिधि अपरम्पार।
"श्री हरि" भला बनाया क्यों यह, सुख-दुखमय संसार ॥ ४ ॥

(लेखक—द्वारकाप्रसाद शुक्ल "शंकर")

(१)

कहूँ दुःख कहूँ सुख दुखहू में सुख कहूँ,
औचक सुखी हो दुखी बात ये न रीति की।
दैकै छीनि लैनो पुन दैबे को दिलासो दैकै,
बाँध्यो याई आस याते सब हीं प्रतीत की।
जानै कौन आनँद मिलै है ऐसी कृत्तिन में,
'शंकर' ह्वै कैसी यह बातैं अनरीति की।
काऊ कहैं सरल स्वभाव है तिहारो नाथ,
काऊ कहैं काट छाँट बाजी कूट नीति की।

(२)

कौन सुखी सुख काह कहा दुख, कौन दुखी नहि बोध करैंगे।
पायो गयो मिलि है भ्रम में परि, भ्रान्ति के पाश बँधे जे रहैंगे।
बालक खेल लौं सृष्टि प्रपञ्च है, हेतु बिना, दृढ़ वोई धरैंगे।
छाँड़ि फलाश जे कर्म, करैं, गहि, 'शंकर' मार्ग न टारे टरैंगे।

वाममार्ग का संवाद

(लेखक—श्री 'सत्यान्वेषी')
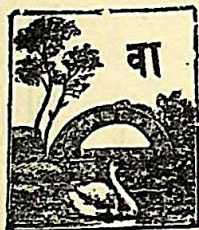
वाममार्ग भारत का इस समय एक अत्यन्त गर्हित धर्म माना जाता है। जितनी निन्दा आये दिन इस धर्म की होती रहती है उतनी भूत प्रेत के पूजकों की भी नहीं होती। ऐसी दशा में यदि इस धर्म के महत्व का विवेचन किया जाय तो वह अनेक पाठकों के लिये रुचिकर न होगा। परन्तु सत्यान्वेषी सत्य की अवहेलना करते हुये नहीं पाये गये हैं। अतएव भारत के इस प्राचीन और आज के लोक-निन्दित धर्म की मैं यहाँ इसी दृष्टि से चर्चा करता हूँ।

इस चर्चा के करने का अनायास ही एक अवसर प्राप्त हो गया है। मुझे हाल में विन्ध्यक्षेत्र जाना पड़ा था। संयोगवश मेरी वहाँ एक शाक्त साधक से भेंट हो गई। इस अवसर पर वाममार्ग के सम्बन्ध में मेरी उनसे बातचीत हुई थी वही मैं यहाँ संवाद के रूप में लेखबद्ध करता हूँ। आशा है, इससे धर्मप्रेमियों को वाममार्ग के सम्बन्ध में बिलकुल नई बातें मालूम होंगी।

उक्त महात्मा अष्टभुजा के मन्दिर के पास सीताकुण्ड पर ठहरे हुये थे। जब त्रिकोण परिक्रमा करता हुआ मैं वहाँ पहुँचा था तब धूप तेज़ हो गई थी, अतएव विश्राम करने के विचार से मैं उस स्थान पर ठहर गया। महात्मा जी के पास जाकर अभिवादन किया और पास पड़े हुये एक पत्थर पर बैठ गया। कुशल प्रश्न आदि पूछे जाने के उपरान्त धर्म-सम्बन्धी चर्चा छिड़ गई। वेषभूषा से महात्मा जी पूर्ण शाक्त लक्षित होते थे। अतएव मैंने बड़ी विनम्रता से उनसे कहा—महात्मा जी, वाममार्ग के सम्बन्ध में लोक में जो निन्दावाद फैला हुआ है उस सम्बन्ध में आप जैसे महात्मा लोग कुछ नहीं कहते।

महात्मा जी ने स्वाभाविक सरलता के साथ कहा—जो लोग वाममार्ग की निन्दा करते हैं वे उस के सम्बन्ध में वैसा ही जानते हैं, साथही उस के सम्बन्ध में और अधिक जानना भी नहीं चाहते। ऐसी दशा में व्यर्थ का प्रयत्न क्यों किया जाय? इस के सिवा शाक्तों को यह सब कुछ करने का आदेश भी नहीं है। पर यदि कोई सचमुच जानना चाहे तो उसे बताने से कोई इनकार भी नहीं करेगा।

"मैं ने तो इसी उद्देश से यह प्रश्न उठाया है।"

"अच्छी बात है। पूछिये। जितना जानता हूँ, अवश्य बताऊंगा।"

"यही मद्य, माँस आदि की बात। क्या वाम मार्गी इन सब वस्तुओं का पूजा के नाम पर सेवन करते हैं?"

"यह सब तो आप जानते ही हैं। इस संबंध में मुझे कुछभी बताना नहीं है। मैं समझता था कि आप उस की साधना आदि के सम्बन्ध में पूछेंगे।"

"मैंने चकित हो कर कहा—तो क्या महात्मा जी?"

"वाममार्गका परम तत्व! उसका वैज्ञानिक साधना क्रम!"

महात्माजी ने अधिक गम्भीर स्वरमें कहा। उस समय उन के चेहरे पर एक प्रकार की अस्वाभाविक प्रभा दमक उठी थी। उन की तेजपूर्ण आकृति देख कर मैं सहम सा गया था।

मैं ने साहस कर के कहा—वाममार्ग और वैज्ञानिक साधना! ये दोनों बातें एक साथ—

महात्मा जी बीच में ही बोल उठे। उन्हों ने

कहा—यही तो लोग नहीं जानते। और वाममार्ग के सम्बन्धमें लोगों को यही बताना है। भिन्न भिन्न इष्ट देवताओं की उपासना का विधान होते हुये भी वाममार्ग में 'परमेश्वर' का अपना अलग स्वतन्त्र स्थान है। यही नहीं, प्रत्येक शाक्त-साधक को अपने इष्ट देवता की आराधना के साथ साथ परमेश्वरकी भी उस पूजा करनी पड़ती है। परन्तु यह बात अन्य धर्मों में नहीं पाई जाती। एक वाममार्गी ही ऐसे साधक हैं जो परमेश्वर की वास्तविक कल्पना अपने ध्यान में सदा बनाये रहते हैं। अन्य धर्मों के मुक़ाबिले वाममार्ग की यह सब से बड़ी विशेषता है।"

"क्या वाममार्गी भी परमेश्वरकी पूजा करते हैं? मैं ने तो यही सुना है कि उन के यहां पञ्च मकार के सिवा और कुछ नहीं है।"

"आपने ग़लत नहीं सुना है। पर इस समय जो मैं कहता हूँ उसे सुनिए। वास्तव में वाममार्गी ही परमेश्वर की पूजा करते हैं और वे उस के एक ऐसे रूप की कल्पना कर के उस की पूजा करते हैं जो ध्यानगम्य है। वाममार्ग का यह परमात्मतत्व उसका प्रधान तत्व है। परन्तु उसकी इस विशेषता की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता।"

"यह विशेषता तो मेरी समझमें नहीं आई। सभी धर्मों में परमेश्वर की पूजा का विधान है। आप यह कैसे कहते हैं कि अकेले वाममार्गी ही परमेश्वर की पूजा करते हैं?"

"उदाहरण के लिये अपने यहां ही देखिये। वैष्णव शैव आदि किस की पूजा करते हैं? विष्णु, शिव आदि की ही न! और ये परमेश्वर नहीं हैं, किन्तु उसके अंश विशेष हैं। इसी तरह अन्य धर्मों में भी पाया जाता है।"

"और वाममार्गी भी तो काली, तारा आदि की पूजा करते हैं। क्या ये देवियाँ परमेश्वर हैं?"

"वाममार्गी इन देवियों की पूजा करते हुये परमेश्वर की उन से पृथक पूजा करते हैं। वे परमेश्वर को परमेश्वर और काली को काली ही मानते हैं। परन्तु अन्य धर्मों में ऐसा नहीं है। उन में परमेश्वर की या तो उपेक्षा की गई है या इष्ट देवता ही परमेश्वर मान लिया जाता है।"

"यह तो आप अन्य धर्मों पर बड़ा भारी आक्षेप करते हैं।" मैं ने क्षोभ के भाव से कहा।

महात्मा जी ने पूर्ववत् गम्भीरता के साथ उत्तर दिया। उन्हों ने कहा—मुझे किसी धर्म पर आक्षेप करने का अधिकार नहीं है। आगम का मत इस संबन्ध में स्पष्ट है। उस में कहा गया है कि जैसे सब नदियाँ अन्तमें जाकर समुद्र में ही गिरती हैं, वैसे ही सब धर्मों के उपासक अन्त में परमात्मा में ही जाकर लय होते हैं। अथवा जैसे गायों का रंग एक दूसरे से भिन्न होता है, पर दूध सब का सफेद ही होता है, वैसे ही यद्यपि सभी धर्म एक दूसरे से भिन्न होते हैं, पर लक्ष्य सभी का परमात्म-तत्व की प्राप्ति ही है। ऐसी दशा में किसी धर्मकी मैं निन्दा कैसे कर सकता हूँ। परन्तु यह तो सत्य की रक्षा के लिये कहना ही पड़ेगा कि यह गङ्गा नदी है और यह सई नदी है जो गङ्गा में गोमती के द्वारा मिल कर समुद्र में जा कर मिलती है।

"तो आप विष्णु, शिव आदि को परमात्मा नहीं मानते?"

"मैं तो विष्णु क्या, एक कीट तक को परमात्मा का एक मनोहर रूप मानता हूं। पर जो बात शास्त्रों में विवेचनापूर्वक निर्दिष्ट की गई है उसकी उपेक्षा तो नहीं की जा सकती। शास्त्रों में विष्णु आदि देवताओं की जो उत्पत्ति आदि बताई गई है उस से यही व्यक्त होता है कि परमात्मा ही इन सब का जन्मदाता है और ये नित्य नहीं हैं। अब रहा उपासकों का अपने इष्टदेवता को परमात्मा समझना, सो वे वैसा खुशी से समझ सकते हैं, उन के लिये वही कर्तव्य है।"

"काली आदि देवियों की भी तो विष्णु आदि की सी ही उत्पत्ति बताई गई है। तब आप

यह कैसे कहते हैं कि वाममार्गी ही वास्तव में परमेश्वर की पूजा करते हैं?"

"वाममार्गी काली को काली और परमात्मा को परमात्मा समझ कर अलग अलग उन की पूजा करता है। वह सब को एक में मिला कर गड़बड़ घोटाला नहीं करता। वह शास्त्र की मर्यादा का बराबर ध्यान रखता है और स्वेच्छाचारी नहीं होता। इस के विपरीत अन्य धर्मानुयायी अपने अपने धर्माचार्यों के आदेश के अनुसार कार्य करते हैं और शास्त्र के आदेश की उनके आगे उपेक्षा करते हैं।"

"यह तो आप ने एक नई पहेली उपस्थित कर दी है जिस का हल ही नहीं सुझाई पड़ता।"

"इसे आप पहेली क्यों कहते हैं? यह बिलकुल स्पष्ट बात है। मैं कहता हूँ कि परमात्मा की प्रत्यक्ष पूजा केवल वाममार्गी ही करते हैं। वे अपने इष्ट देवता के भक्तिभाव में उसे भूले नहीं रहते। परन्तु अन्यधर्म वाले केवल अपने इष्ट देवता की ही पूजा करते हैं और उसी को परमात्मा मान लेते हैं जो न तो शास्त्र-सम्मत है, न बुद्धि-सम्मत है।"

"आपका यह तर्क मुझे साधु नहीं प्रतीत होता। अपने इष्ट देवता को परमात्मा जानकर उसकी पूजा करना कहीं अधिक समीचीन है। आपका कथन तो सचमुच ही वाममार्गी गोरखधन्धा ही जान पड़ता है।" मैंने कटाक्ष करते हुये कहा।

परन्तु महात्मा जी पूर्ववत् गम्भीर ही बने रहे। उन्हों ने कुछ क्षण ठहर कर कहा—मैं आपसे वाद-विवाद तो कर नहीं रहा हूँ। आपने वाममार्ग के सम्बन्ध में पूछा था वही मैंने आपको बताया है। यदि आप—

मैंने बात काटकर कहा—क्षमा कीजिये महाराज। मैंने तो आपसे मद्य, मांस आदि पञ्च मकारों के सम्बन्ध में पूछा था। उसका समुचित उत्तर आपने कहाँ दिया है?

"उसका उत्तर तो मैं आपको पहले ही दे चुका हूँ। वह सब तो पहले से ही मालूम है। मैं तो आपको वह बात बतला रहा हूँ जो कदाचित् आपको न ज्ञात होगी।"

"महात्मा जी, आप ठीक कहते हैं। ये सब बातें तो मुझे नहीं ज्ञात थीं। क्या इस सम्बन्ध में अभी आपको कुछ कहना बाक़ी रह गया है?"

"यह विषय तो इतना गहन और गम्भीर है कि इसका पूर्ण परिचय पाना सब किसी का काम नहीं है। मैं अपनी ही कहता हूँ। वर्षों की साधना के बाद अब जाकर कहीं उसके स्थूल रूप का और सो भी यत्किञ्चित ही परिचय पा सका हूँ।"

"हाँ, हाँ, महाराज, उसकी साधना के सम्बन्ध में भी कुछ कथन करने की कृपा कीजिये।"

"वाममार्गियों की साधना आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक है। वह इन तीनों धाराओं में एक साथ ही प्रवाहित होती है। वही मैं हूँ, यह भावना आध्यात्मिक हुई। स्वयं देवता बनकर देवता की अपने ही पिंड में भावना द्वारा पूजा करना, आधिदैविक भाव हुआ। और यंत्र-विग्रह आदि में इष्ट देवता का षोडशोपचार से पूजन करना, आधिभौतिक कल्पना हुई।"

"परन्तु महाराज, यही सब तो हिन्दू-धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदायों में प्रचलित है। इसमें वाममार्ग की साधना की क्या विशेषता है?"

"पहली विशेषता तो यही हुई कि वाममार्ग के सिद्धान्तों का अन्य सम्प्रदायों ने अपहरण किया है।"

यह सुनकर मुझे कुछ तैश आ गया। मैंने तेज़ होकर कहा—वाममार्ग के सिद्धान्त हिन्दू सम्प्रदायों ने चुरा लिये हैं? यह तो आप अनहोनी बात कह रहे हैं। आपको जानना चाहिये कि हिन्दू सम्प्रदाय वैदिक है।

महात्मा जी ने मेरे इस कथन को भी धैर्य के साथ ही सुना। उन्हों ने कहा, "एक तरह आपका कथन ठीक है, परन्तु आपको भी जान लेना चाहिये कि वाममार्ग भी वैदिक है। तथापि यहाँ वैदिकता या अवैदिकता का कोई प्रश्न नहीं है। असल बात तो यह है कि वाममार्ग वर्तमान हिन्दू-सम्प्रदायों से बहुत पहले का है और इन सम्प्रदायों ने वाममार्ग के मूल-सिद्धान्तों को अक्षर अक्षर ग्रहण किया है।

"यह तो आप बड़ी विचित्र बात कह रहे हैं। क्या आप अपने कथन के पक्ष में प्रमाण भी देने की कृपा करेंगे?"

"देखिये, वाममार्ग में दीक्षा लेकर साधक अपने इष्ट देवता के मंत्र की साधना मन को विशुद्ध रखकर ध्यानपूर्वक करता है। वाममार्ग में इसी सिद्धान्त का गुरु, मंत्र, मन, इष्ट और ध्यान इन पाँच तत्वों के रूप में निरूपण किया गया है। इन पाँच तत्वोंको दृष्टि में रखकर यदि आप विचार करेंगे तो आपको आपही यह ज्ञात हो जायगा कि वाममार्ग की हिन्दू-सम्प्रदायों पर कैसी अमिट छाप लगी हुई है!"

"महात्मा जी, इस सादृश्य से यह नहीं माना जा सकता कि वाममार्ग के सिद्धान्तों की दूसरे धर्म वालों ने चोरी की है। सत्य आदि मौलिक सिद्धान्तों की भाँति ये तत्व भी सार्वदेशिक हैं। कोई एक धर्म यह दावा नहीं कर सकता कि इनका उद्भव उस एक धर्म के द्वारा हुआ है।"

"आपके इस तर्क का उत्तर इस समय हम यह कह कर देंगे कि इन पाँचों तत्वों का वैज्ञानिक निरूपण सबसे पहले वाममार्गियों के धर्मग्रन्थों में ही हुआ है।"

"यह आप कैसे सिद्ध करते हैं कि वाममार्ग सबसे पहले का है?"

यह तो अपने आप सिद्ध है। बौद्ध धर्म से लेकर आधुनिक राधास्वामी मत तक वाममार्ग का केवल प्रभाव ही नहीं दिखाई देता है, किन्तु प्रायः हमारे सभी प्राचीन तथा नवीन धर्मों में उस का किसी न किसी रूप में अवश्य उल्लेख हुआ है।"

"भिन्न भिन्न पवित्र धर्मों पर वाममार्ग का प्रभाव पड़ने की बात आप बार बार कहते हैं। मेरी समझ में तो कोई भी धर्माचार्य वाममार्ग जैसे लोकनिन्दित धर्म की बातों को कभी नहीं ग्रहण करेगा।"

"आप के ही पास इस बात का क्या प्रमाण है कि भूतकाल में भी वाममार्ग आज की तरह लोक निन्दित था? लोक में उसकी निन्दा यदि सच पूछिये तो कबीर के समय से शुरू हुई है, और इधर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उसकी निन्दा लोक-व्यापी कर दी है। परन्तु मुसलमानों के दिल्ली और कन्नौज के राज्यों को हस्तगत करने के पहले वाममार्ग ही सारे भारत का लोकमान्य धर्म था। यदि वह उतना महत्वशाली न होता तो बौद्ध, जैन, आदि जैसे धर्म अपने मौलिक सिद्धान्तों का त्याग कर उसमें लय न हो जाते।"

"क्या आप अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण भी देने की कृपा करेंगे?"

"भिन्न भिन्न धर्मों के धर्मग्रन्थ पढ़िए, उनके साधनाक्रम का परीक्षण कीजिये, आप स्वयं ही जान जायँगे कि मेरा कथन कहाँ तक यथार्थ है।"

"पर महात्मा जी, आपकी बात तो मेरे मन में नहीं बैठती। वाममार्गियों के भैरवी चक्रों की जघन्य कथायें मैंने सुनी हैं और आज समाज में वाममार्गी अत्यन्त घृणा से देखा जाता है।"

"यहाँ भी आप भूल कर रहे हैं। भैरवी चक्रों की जघन्य कथायें भर आप जानते हैं। पर यह नहीं जानते कि 'भैरवी चक्र' क्या वस्तु है। 'भैरवीचक्र' का महत्व एक इसी बात से प्रकट होता है कि उसका अनुकरण बौद्धों ने 'धर्मचक्र' के रूप में और जैनियों ने 'महाचक्र' के रूप में किया है।

परन्तु इन सब बातों का विश्लेषण या विवेचन करना न तो आप लोगों को अभीष्ट है और न उसके लिये अवकाश है। आप तो भैरवी चक्र की जघन्य कहानियाँ भर सुनकर अपनी धार्मिक भावना का समाधान कर लेते हैं। आप बार बार मद्य, मांस आदि का प्रश्न उठाते हैं, पर यह नहीं जानते कि वाममार्ग की साधना में उनको उतना महत्व नहीं प्राप्त है। वे तो साधना के उपकरण मात्र हैं और उनको लेकर जो बातें लोक में प्रकट की गई हैं वे वैसी नहीं हैं जैसी दिखाई गई हैं।,,

"आप जब इस तरह कहते हैं तब कहिये मान लूँ। नहीं तो भैरवी चक्र और नायिकाओं के संग्रह की बातें कौन नहीं जानता है।,,

"मैं कहता हूँ कि भैरवी चक्र की जो बातें आप लोग जानते हैं वे हिन्दू शाक्तों की नहीं हैं और चाहे जिसकी हों। आप ने अभी नायिकाओं के संग्रह की बात कही है, यह बात भी उनकी नहीं है। हिन्दू वाममार्गी स्त्री को शक्ति-रूप में ग्रहण करते हैं। परन्तु विशेष भेद के साथ। कन्या रहते वे उसकी भिन्न भिन्न देवियों के रूप में सोलह वर्ष के वय तक पूजा करते हैं, पर जब उसी का विवाह हो जाता है तब अपनी पत्नी की शक्ति के रूप में पूजा करते हैं। और उनमें भोग्य अपनी पत्नी ही होती है, परस्त्री तो सदा उनके यहाँ पूज्य ही मानी गई है।''

"परन्तु आपके धर्म ग्रन्थों में इस कथन के विपरीत वचन पाये जाते हैं। उनके सम्बन्ध में आपका क्या कहना है?"

'मेरा कथन यह है कि ये तादृश धर्म ग्रन्थों से संकलित कर लिये गये हैं। वाममार्गियों में वैसी बातों का न तो प्रचलन है, न उनकी परम्परा ही पाई जाती है। उसका जो सरल रूप है वह मैंने आपको बता दिया है। स्त्रियों को वाममार्ग ने जो सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया है वह संसार का कोई धर्म उन्हें आज तक न दे सका। और जिस भैरवी चक्र पर आप आक्षेप करते हैं वह वह चक्र है जिस में मनुष्य मनुष्यता के पूर्ण रूप का दर्शन करता है और ब्राह्मण तथा चाण्डाल एवं गुरु तथा शिष्य समानता की भावना को वास्तव में चरितार्थ करते हैं।"

"और मद्य-मांस के सम्बन्ध में?"

''ये पदार्थ देव तथा पितृ कार्यों में वैदिक काल से ही समाज में ग्रहीत रहे हैं। तब यदि वैदिक मार्ग के एक विशेष अंग वाममार्ग में उनको स्थान दिया जाय तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही होगा। मांस, मत्स्य आदि मेध्य हैं। अतएव ये सात्विक पदार्थ हैं। यदि पाशविक विकारों के शान्त्यर्थ वाममार्गी इनका उपयोग अपनी साधना में करते हैं तो इसमें कोई दोष नहीं है।''

बातचीत का सिलसिला बढ़ता जा रहा था। उधर सूर्यदेव ढल चुके थे। और मुझे विन्ध्यवासिनी के दर्शनार्थ लौटना था। अतएव मैं ने कहा—महात्मा जी, आप के इस उपदेश से मेरा बड़ा उपकार हुआ है और मेरे अनेक संशय दूर हो गये हैं। यदि आप आज्ञा दें तो कल फिर सेवा में उपस्थित हो कर आप के सत्संग का लाभ प्राप्त करूँ।

महात्मा जी ने कहा—हाँ, आपको अभी दूर जाना है। फिर आप के लिये यह स्थान अपरिचित है। आप खुशी से जब चाहें, आ सकते हैं।

मैं सादर अभिवादन कर वहाँ से, दूसरे दिन फिर आने का निश्चय कर के, चला आया।

पुरुषार्थ

(लै०—श्री मांगीलाल शर्मा—जयपुर राज्य)

त्वामामनन्ति प्रकृतिं 'पुरुषार्थ'—प्रवर्तिनीमि् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ।

(कालिदास)

पुरुष जिन दो तत्वों से बना है, उनका नाम है विद्या और कर्म इससे पुरुषार्थ भी दो प्रकार का हुआ । एक विद्या-पुरुषार्थ, दूसरा कर्म-पुरुषार्थ । पुरुषार्थ की प्रवर्तिनी प्रकृति है जिसे लोकभाषा में स्वभाव या आदत कह सकते हैं। जिसको आगे रख पुरुष या तो विद्यापुरुषार्थ में प्रवण होता है या कर्म–पुरुषार्थ में । पुरुष भी दो प्रकार का है, एक अमृतपुरुष, दूसरा मर्त्यपुरुष । अमृतपुरुष तो सत्यसंकल्प आप्त काम है, उसका तो पुरुषार्थ के विषय में यहाँ वक्तव्य नहीं । दूसरा जो मर्त्य पुरुष है, जिसे भोक्तात्मा या कर्मात्मा कहते हैं । शास्त्र में उसी का पुरुषार्थ की प्राप्ति में अधिकार है । विद्यापुरुषार्थ को अपवर्ग, और कर्मपुरुषार्थ को त्रिवर्ग कहते हैं । कर्मपुरुषार्थ का कर्मपुरुषार्थ से उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध होने से प्रत्येक पुरुष उभय विधि पुरुषार्थ को पाने का अधिकारी है । अपवर्ग पुरुषार्थ ज्ञानमार्ग है और त्रिवर्ग पुरुषार्थ विज्ञान मार्ग ।

मन कामना का प्रभव है, कामना का पर्याय इच्छा है । अतः मनुष्य का मन पुरुषार्थप्राप्ति में प्रथम सोपान है, पुरुषार्थलिप्सुका मन उदार संकल्प होना चाहिये । मनको आप प्रार्थना पत्र समझिये, इसमें जितनी बड़ी प्रार्थना संकल्पित होगी, पुरुषार्थ भी उसी प्रमाण से बड़ा होगा । मन संकल्प करे तो वह नर से नारायण बन सकता है । इच्छाशक्ति प्रादुर्भूत होनी चाहिये। यह जो दृश्यमान कृत्स्न विश्व है किसी एक पुरुष का मनोविकाश मात्र है । मनमें इच्छामय बहुत बड़ी क्षुधा जो पुरुष अनुभव करता है, वह मनस्वी कहलाता है। पुरुषार्थ को मनस्वी ही प्राप्त करता है । पुरुषार्थ में मनका वही स्थान है, मकान में जो नीवका । यह अदृश्य रहकर कर्म में व्याप्त माना जाता है । इसकी सहायता के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता, अतः पुरुष मनको सदैव अमृत ज्योति समझ कर इसका पूरी मात्रा से अर्थ में विनियोग करे ।

किसी प्रकार का पुरुषार्थ हो, उसकी प्राप्ति में तीन शक्तियां अपेक्षित हैं ज्ञानशक्ति, प्राणशक्ति और भूतशक्ति । ज्ञानशक्ति का परामर्श ऊपर कर दिया, उपसंहार भूत शक्ति से है, अब रही प्राणशक्ति । पुरुषार्थ में यह शक्ति कुर्वाणरूप है । ज्ञानशक्तिमें चैतन्य है, अतः पुरुषार्थ में दोनों अक्रिय होने से त्रिधाशक्तिसम्पन्न प्राण की अपेक्षा रखती हैं । पुरुषार्थ का विग्रह प्राणशक्ति खड़ा करती है । इस शक्ति को शैवागम में स्पन्दशक्ति नाम से कहते हैं । जिन लोगों में इस शक्ति का प्रादुर्भाव न हो, वे नीति में 'उत्थाय हृदि लीयन्ते'–उपमा के निदर्शन बनते हैं । इच्छाशक्ति के अव्यवहित उत्तर में क्रियाशक्ति का प्रयोग अभीष्ट है, व्यवधान से पुरुषार्थ का सारस्य जाता रहता है । तपस्या, तलाश, अनुसन्धान अनुसरण, खोज, तपास इस प्राणशक्ति के अन्तर्गत है । प्राणशक्ति त्रिलक्षणस्थायी होने पुरुषार्थ का स्वरूप बनाने में अनन्त प्राण शक्तियां अपेक्षित हैं । पुरुषार्थ यद्यपि एक है, वही चतुष्कल होकर अपने अवान्तर भेदों से चतुर्वग परिभाषित है । वह चतुर्वग प्राणशक्ति सम्पन्न होने से 'चतुर्भद्र' बनाता है । इस चतुर्भद्र पुरुषार्थ के लिये ही पुरुष का प्रयत्न होना चाहिये ।

यहाँ इस ओर ध्यान रखिये कि हम जो विद्या पदवी के लब्धवर्ण हैं, विद्या और कर्म इन दो तत्वों

में बताई विद्या में से कर्मार्थ विद्या ही को विद्या समझ रहे हैं। वह तो कर्म में परिगणित है। और जो ज्ञान निर्विषय होता है, वह विद्याधातु है। यही ब्रह्मकर्म गीता में है। कर्म धातु के विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं। ब्रह्मविद्या में 'तमेव विदित्वा' श्रुतियां हैं।

भूतशक्ति पुरुष को पुरुषोत्तम तक पहुँचाती है। वह भी दो प्रकार है। अचेतन भूतशक्ति एक, चेतन भूतशक्ति दूसरी। इन को पशु कहते हैं, और उस का नियन्ता पशुपति है। पुरुष इस पशुपति की चारों पुरुषार्थ संज्ञकलाओं में से जिस अर्थ को वह पाना चाहता है उसे प्राप्त करता है। पुरुष को विद्या और कर्म तो कह दिया उस पुरुष का भाव 'पौरुष' है, वह परात्पर अव्यय पुरुष ही पुरुषार्थ है।

❀ जय शिव ❀

(लेखक—श्री पं० चन्द्रशेखर जी)

तुम्हारी होवे जय जय कार ॥ तुम्हारी० ॥

करुणा सिन्धु बन्धु दीनन के अभिमत फल दातार ॥

अशरण शरण हरन दारिद दुख, करन दूरि भूभार।

तारन तरन परम पूरन प्रभु औढर ढरन उदार ॥

अखिलेश्वर आनन्दधाम अघ नाशन शमन विकार।

आशुतोष निर्दोष कोषशुभ शान्त सुहृदसंसार ॥

जन रंजन खल गंजन भगवन भव भंजन भरतार।

सुर पालक असुरादिक घालक जग जालक करतार ॥

वर दायक सब लायक गुणगण जस गायक श्रुति चार।

'शशिशेखर' सोइ ईश विनय मम कुरु सादर स्वीकार ॥

(२० वें पृष्ठ से आगे)

भगवती, गणेश, सूर्य, विष्णु और महादेव —पंचदेवों में अच्छिन्नरूप से संचरित है। और इन में नाम, रूप, गुणादि की भिन्नता, उस अद्वैत की विकम्पित अवस्था में होने के कारण ही है। अन्यथा इन में उस से अभिन्नता है।

वह मन वाणीसे परे अवर्ण्य पूर्ण, अद्वैत ब्रह्म, आदिदम्पति शिवशक्ति, उमामहेश्वर, शंकरपार्वती रूप में ही ज्ञानगम्य और ध्यानगम्य होता है और उपास्यरूप में प्रत्यक्ष होता है। पीछे कहा जा चुका है कि 'परमात्मा ने मनुष्य को अपने अनुरूप ही बनाया है' और मनुष्य शरीर पञ्चतत्त्वों से बना है। जैसा पीछे कहा जा चुका है शिव में इन पंचतत्वों के बीज विद्यमान हैं, अतएव परमशिवशक्त्यात्मा इन पञ्चतत्वों का उद्गमस्थान है। अपनी कलाओं का जब वह विकाश करता है तो इन्हीं पञ्चतत्त्वों की प्रधानतावाले:—शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश, और भगवती—पंच देवताओं के रूप में उपास्यदेवस्वरूप हो कर, जिस उपासक में जिस तत्त्व का प्राधान्य होता है उसी तत्त्वप्रधान इन पंचदेवताओं में से एक की ओर वह प्रेरित होता है। ये पाँच राजमार्ग उस तक के पहुँचने के लिये महर्षियों ने खोज रक्खा है। जिस का जो पथ है, उसीसे होकर वह उसतक पहुँच जाता है।

अब विचारणीय यह रह जाता है कि उपासना के उपरोक्त मानसिक तत्त्व-विश्लेषण से क्या यथार्थ ठहरता है। जब इस सृष्टि का संवरण होता है तो केवल नटराज शिव और उन के ताण्डव की एक मात्र साक्षिणी शिवा ही रह जाती हैं। अतएव समस्त सृष्टिप्रपंच—ब्रह्मादिस्तंभ पर्य्यन्त, को भस्म कर वे अपने अंगो को उद्धोलित कर लेते हैं। यह सब आस्तिक सम्प्रदायों के उपासकों का मत है। किन्तु शिव का यह प्रभाव और महत्त्व उन में स्वयं अपना नहीं है। उन में इन कार्यों के संपादन की क्षमता तभी होती है जब वह शक्ति से युक्त होते हैं:—

शिवः शक्त्यायुक्तो यदिभवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितु मपि।
अत स्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुंवा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

यदि 'शिव' से इ जो शक्ति है निकल जाय तो 'शव'-मुर्दा-ही रह जावे। स्मरण रखना चाहिये कि यह केवल व्यवहार क्षेत्र में क्रियाओं के करने का जहाँ तकसम्बन्ध है वहीं तक लागू होती हैं। अन्यथा दोनों अभेद्य और अभिन्न होते हुये तादात्म्य अवस्था में रहते हैं जैसे चन्द्र और चन्द्रिका, अग्नि और दाहकता—"गिरा, अर्थ जल बीचि लौं कहियत भिन्न न भिन्न"। इसी भाव को शिवयोगी श्री नीलकंठ जी।दीक्षित ने यों कहा है:—

अशक्यसंगान्तरवद्विभक्तु,
मणुप्रमाणं करणं यदन्तः।
सामान्यभूतं शिवयोस्तदेकं,
सानुग्रहं स्यान्मयि गर्भदासे॥

अतएव उपासना के इस अंग पर विचार करने से ज्ञात होता है कि सब उपासनाओं का अन्तिम लक्ष्य 'शिवाशिव' ही हैं।

"उपासना का भौतिक अंग"

उपासना में इष्टदेव के विग्रह-निर्माण के लिये और पूजोपचारों में, भौतिक पदार्थों की सहायता लेनी पड़ती है। पंचभूतरचित सृष्टिप्रपञ्च भी सदैव सामने अनेक दृश्य प्रकट करता और लोप करता रहता है। इन सबों के ऊपर विचार करने से जगत् शिवाशिवमय ही प्रतीत होता है। देखिये! पञ्चदेवों में उन के रंगों को ही ले लीजिये। अन्य चारदेवों के रंग—काला, गगनसदृश, लाल, और हरित कहे गये हैं। इन की छटा और अवस्थाविशेषों में अन्य

चार रंग जो सृष्टि में विद्यमान हैं, पाये जाते हैं। भौतिक विज्ञान के प्रयोगद्वारा यह सहज ही देखा जा सकता है कि यह सब सातों रंग श्वेत रंग में विद्यमान हैं। और यही श्वेतवर्ण महर्षियों ने शिव का बताया है।

अब पूजोपकरणों में भी देखिये तो शिव ही उन की मूल में हैं। यह सब पञ्चतत्वों से बने हैं और उन पञ्चतत्वों के बीज शिव में विद्यमान हैं:—

छमा में छई है छमा भूतिकी विभूति, वाके,
अंग की सुवास गंधगुन ह्वै समाई है।
जल में सरसता सुधांसु शीशभूषन की,
अग्नि में तेज तीजे नैन को लखाई है।
स्वास औ प्रस्वास तें है वायु को विकास और,
छुवन की शक्ति को समीरन ने पाई है।
व्याप्यो शब्द गुन ह्वै के नभ मांहि जौन वह,
शब्दगति शंकर तें डमरुवजाई है॥

नितप्रति भुवनभास्कर प्रातःकाल ऊषा की अरुणिमा में उदय होकर समस्त संसार को अपने रजतमय प्रकाश से परिपूरित कर सायंकाल संध्या की लाली को अवगाहन से करते हुये उस के सहित निशा की कालिमा में अन्तर्हित हो जाते हैं। रात्रि अंधकारमयी होती हुई भी अपने वक्षस्थल पर या तो चन्द्रमा के प्रकाश या कृष्णपक्ष में नक्षत्रों की मनमोहक प्रभा से प्रकाशित होकर उन के समेत प्रातःकाल अरुणोदय की लाली में हो कर उस के साथ साथ दिन में विलीन सी हो जाती है। प्रकृति इस 'सिनेमा' को नितप्रति सब के सामने दिखाती रहती है और इस से सब को सूचित करती रहती है कि यह समस्त सृष्टिप्रपंच शिवमयी है। त्रिगुणों का लय शुद्ध सतोगुण में होता है। और उन का उद्गम स्थान भी वही है। सतोगुण श्वेतवर्ण, रजोगुण लाल और तमोगुण श्याम रंग है। इस दिन-रात के परिभ्रमित चक्र में इन तीनों गुणों का प्रादुर्भाव और लय हुआ करता है। ऊषाकाल–लाल, दिन–सफेद, सायंकाल–लाल और रात–काली है। दिन के प्रारम्भ और रात्रि के अवसान में लाली दिखाई पड़ती है। दिन–सफेद रहता है। सायङ्काल-दिन के अन्त और रात के प्रारम्भ में लाली रहती है। रात चन्द्रमा और नक्षत्रों के रहते हुये भी दिन की अपेक्षा काली रहती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुये यदि दिन को शिव तथा रात्रि को शिवा सूचक कहें और दोनों को पास पास खड़े अनुमान करें तो उन के ओंठों की लालिमा ऊषाकाल की लालिमा और सायंकाल की अरुणाई उन के पदतलों की अरुणाई हो जाती है। यह दिनरात का एक दूसरे में बारी बारी से लय होना साधकप्रवर महर्षियों के, कभी शिव का शक्ति में लय होना और कभी शक्ति का शिव में लय होने का द्योतक है। और इस बात को सिद्ध करता है कि जगत् 'शिवाशिवमय' है। देखिये:—

दिन अवसान राति, रजनी विहान घोस,
सायं प्रात काल जौन सृष्टि में दिखाई है।
सतोगुन श्वेतवर्ण तमोगुन श्यामरंग,
रजोगुनलाली परै तिन में लखाई है।
रज तम सत लीन होत शुद्ध सत्व मांहिं,
या को भेद निशि तारा चन्द्र प्रकटाई है।
शुभ्र शिव कृष्ण शिवा मुख पग लाल लसैं,
देखो सब शंकरमयी ही जग छाई है।

"उपासना का व्यावहारिक अंग"

नित्य के व्यवहार में आये दिन इन पंचदेवों के उपासकों में—मन ही में सही—यह भ्रमसूलक भावना अपने इष्ट के अनुराग की प्रचण्डता–जिस को निष्पक्षपाती मनुष्य उद्दण्डता भी कह सकता है—से यह भाव उठा करता है कि जिस की वह उपासना करता है वह इन अन्य चारों से सर्वोपरि है। यही विचार जब किसी साम्प्रदायिक विवाद के समय हृदय में उत्पन्न हो जाता है तो भयङ्कर परिणाम उपस्थित करता है। किन्तु यदि तनिक सूक्ष्म दृष्टि से सावधान हो कर वास्तविकता और इस के तत्व को विचारा जाय तो निष्कर्ष यह

निकलता है कि प्रत्येक उपासक का और उस के इष्ट का जहाँ तक निजीसंबंध है वहाँ तक तो उस की "मन्नाथो जगन्नाथः" की धारणा बिलकुल ठीक ही नहीं वरन् श्लाघनीय और वाञ्छनीय हैं। किन्तु जब इस धारणा का संघर्ष, अन्य चार देवताओं के उपासकोंकी ऐसी ही धारणा से, होनेका अवसर आवे तो उन चार देवों में भी अपने इष्ट को उस के व्यापक गुणवाला होने के कारण उन चारों में व्याप्त जान कर उन की अवहेलना न करना चाहिये कि वे मेरे इष्टदेव से छोटे हैं। यह भ्रमजनित वासना केवल अहितकर ही नहीं किन्तु शास्त्र में गर्हित और हेय कही गई है। देखिये स्वयं भगवान ने कहा है:—

ज्ञानं गणेशो मम चक्षुरर्कः,
शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या।
विभेद बुध्या मयि ये भजंति,
ममांगहीनं कलयन्ति मंदाः॥

भोले बाबा भगवान् शिव ने तो अपने वेष और लीलाद्वारा जगत् को इस संबंध में जरा भी किसी भेम का कोई स्थान ही नहीं रक्खाः—

ईश्वर के अन्यरूप भक्तहू लहैं अभीष्ट,
सेवा करि सर्वेश शंकर ललाम की।
वेष अरु लीला तें है प्रकट विचारि देखो,
गोद में गनेस नेत्र थिति तेजधाम की।
भीख अन्नपूर्णा में शक्ति की प्रधानता है,
त्यों किरातवेष वनशोभा सीयराम की।
गरे अहिजाल तापै कंठकालकूट की है,
काली के फनन पर नृत्यछटा श्याम की॥

अतएव मेरी यह दृढ़ धारणा है कि समस्त सृष्टिप्रपंच जो दृष्टिगोचर होता है शिवाशिवमय है और वे दोनों अभिन्न हैं। इस लिये अपने कल्याण के लिये प्रत्येक मनुष्य का परम पुरुषार्थ इन दोनों में से किसी भी एकके लिये होनेसे जीवन सफल होता है। क्योंकिः—

ज्यों सुत ऊपर प्रेम करै, जननी-
तिमि तात, तऊ उन दोसे।
मातृ सनेह को स्वाद अलौकिक,
गर्भ तें लै जिनने अँग पोसे।
शंकर— तातहु चित्त द्रवै सदा,
आर्त्त पुकार पै बालक कोसे।
त्यों पदपद्म शिवा के भजै,
मन, चाहै रहै शिव के ही भरोसे।

॥ सत्यम् शिवम् सुन्दरम् ॥

—:०:—
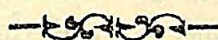
॥ ॐ नमः शिवाय ॥

श्री ॐ कारेश्वर महादेव का ॐ नमः शिवाय बैंक [मन्त्र कोष] काशी धाम।

(लेखक—ॐ नमः शिवाय बैङ्क–मैनेजर, ब्रह्मचारी चैतन्यानन्द, गोविंदमठ, काशी)

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैश्शास्त्रैर्वा बहुविस्तरैः। यस्योंनमः शिवायेति मन्त्रोऽयं हृदि संस्थितः॥
तेनाधीतं श्रुतं तेन कृतं सर्व मनुष्ठितम्। येनोंनमः शिवायेति मन्त्राभ्यासः स्थिरीकृतः॥
य ॐ नमः शिवायेति मन्त्रं लिखति भक्तितः। अघं दंदह्यते तस्य वन्हिः काष्ठ चयं यथा॥
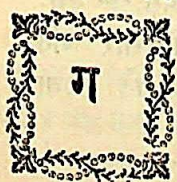
गत उज्जैन कुम्भ के मेले पर अखिल भारतवर्षीय साधु महासम्मेलन की मंत्र परिषद् में अनेक विद्वान महात्मावों ने नाना विध मन्त्रों की महिमा को वर्णन करते हुये 'ॐ नमः शिवाय' महामन्त्र की विशेषरूप से व्याख्या कर अनेक प्रमाणों से महिमा वर्णन करी थी। अतः धर्मोन्नति निमित्त उपस्थित महात्मावों की प्रार्थना स्वीकार कर श्रीमत्-परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी जयेन्द्र-पुरी जी महराज मण्डलेश्वर जी की प्रेरणा से मन्त्र

कोष (मन्त्र भण्डार) अर्थात् ॐ नमः शिवाय बैङ्क की स्थापना हुई है। वस्तुत श्री अन्तर्यामी परमात्मा आशुतोष शंकर जी की आन्तरीय प्रेरणा ही ॐ नमः शिवाय बैङ्क की स्थापना में मूल कारण है। अतः शिवप्रीत्यर्थ धर्मोन्नति निमित्त आप भी यथाशक्ति प्रतिदिन इस असार स्वप्नवत् संसार को तरने के लिये शुद्धावस्था में 'ॐ नमः शिवाय' महामन्त्र को लिखते रहें। और अपने अनुयायी श्रद्धालु भक्तमुमुक्षु व सत्पुरुषों से भी लिखवाते रहें। क्यों कि जैसे गौ के मारने मराने व अनुमोदन करने में पाप लगता है। और मारने आदिक में मदद देने से पाप लगता है। तैसे ही–पुण्य कर्म के करने कराने आदिक में भी पुण्य होता है। जब विशेष संख्या में २०+२५ लाख मन्त्र इकट्ठा हो जायें तब रेल पारसल द्वारा "पारसल का महसूल भर कर" बिल्टी में "ॐ नमः शिवाय के लिखे कागज* हैं" ऐसा लिखवा कर "ठि० टेढ़ीनीम गोविन्दमठ काशी" के पते पर भेजने की कृपा करें। जो सज्जन द्रव्यादि के अभाव से संचित मंत्रों का पारसल किसी कारण से न कर सकें। वे प्रयागराज की अर्द्ध कुम्भी के अवसर पर प्रयाग या काशी आते समय लेते आवें, या किसी व्यक्ति द्वारा भिजवा देने की कृपा करें। उपस्थित मन्त्रों का यथा शक्ति चंदन, धूप, दीपादिक से पूजन करते रहना चाहिये। आगामी सं० १९९२ माघ मास में प्रयागराज की अर्द्ध कुम्भी का मेला होगा। मंत्र लिखने वालों के नाम से संकल्प छोड़ कर प्रयाग तथा काशी में भी शान्ति कर्म किया जायगा। तब तक जिसका जितना मंत्र लिखकर आयेगा, शिव बैङ्क में जमा होता रहेगा। इस अवधि में प्रत्येक बैङ्क की शाखा वाले सद्भक्तों से निवेदन है कि-कम से कम १ करोड़ मन्त्र लिख व लिखवा कर शिवार्पण करें। एक करोड़ मन्त्र भेजने वाले के नाम से शाखा रक्खी जाती है। इस प्रकार ६० शाखा इस पारमार्थिक ॐ नमः शिवाय बैङ्क की खुल चुकी हैं। सानन्द स्टेट की शाखा, नैपाल स्टेट, उज्जैन, लाहौर के कई सज्जन भक्त पुरुषों ने ॐ नमः शिवाय मंत्रों से शिव पार्वती-गणेशादिक के हस्तरचित चित्र भी भेजे हैं। इसके लिये उनको विशेष धन्यवाद है। शिव बैङ्क में प्रणव (ॐ) तथा राम नाम मंत्र व ॐ नमोनारायण मंत्र भी बहुत संख्या में लिख कर आये हैं अतः जिसकी जिस मंत्र में निष्ठा हो लिख या लिखवा कर भेज सकते हैं। मंत्रों का कोष में रखकर विधिवत् पूजनादिक किया जाता है। ॐ नमः शिवाय मंत्र को काशी विश्वनाथ के मन्दिर में जिसका प्रवेश होता है उनसे ही लिखवाना चाहिये। बाकी श्रद्धालु से "शिवाय नमः" अथवा नमः शिवाय लिखवावें। जहां तक बन सके अपनी मातृभाषा में ही मंत्र लिख या लिखवा कर भेजें। लेकिन काशी जी भेजते समय अपना नाम पता व मंत्रसंख्या हिन्दी में ही लिख कर भेजना चाहिये। देवी, पार्वती, गायत्री, व लक्ष्मी जी-को रक्त वर्ण प्रिय है इस लिये लाल चंदन, केसर न हो तो लाल स्याही से ही मंत्र लिखना चाहिये इससे श्री ब्रह्मविद्या-प्रदायिनी भगवती पार्वती जी की भी प्रसन्नता प्राप्त होती है!

१३ महीने में २६ करोड़ मन्त्र शिवजी के बैङ्क में जमा हो चुके हैं। जिन सज्जनों ने कुछ कार्य-वश व अनजान से 'ॐ नमः शिवाय' महामन्त्र का लिखना व जप करना बन्द कर दिया हो उनको किसी सोमवार से फिर लिखना प्रारम्भ कर देना चाहिये गीता में भगवान कहते हैं [यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे]

मन्त्राधिराज राजोऽयं सर्व वेदान्त शेखरः। सर्व ज्ञान निधानं च सोऽयं चैव षड्क्षरः॥ शिव पुराणे॥ ॐ नमः शिवाय महामन्त्र सम्पूर्ण मन्त्रों का राजा वेद वेदान्त प्रतिपादित ज्ञानदाता, धर्म-काम-मोक्ष-व-अभीष्ट फल को देने वाला है। अतः 'ॐ नमः शिवाय' महामंत्र जिज्ञासुओं को समयानुसार प्रति दिन नियम से शिवार्पण बुद्धि से लिखते रहना चाहिये॥ इति शिवम्॥

*ऐसा न लिखने से चुंगी वाले बहुत दिक़ करते हैं।

आत्म-निवेदन ।

भारतका व्योममंडल नैसर्गिकरूपसे सुनील है । पृथ्वी के उष्णता-प्रधान देशों में आकाश अपेक्षाकृत विशेष नीला, सूर्य का रश्मिजाल विशेष उज्वल तथा चन्द्रप्रभा व्योमचूड-सुशोभिनी होती है । सघन घन राशियाँ अत्यधिक जलधारा बरसाती हैं एवं अग्नि, विद्युत् और भगवान् भास्कर विशेष प्रभावान् एवं उद्भिज—जरायुज—अण्डज—पिण्डज—जीवनचक्र को अपेक्षा-कृत अधिक वेग से चलानेवाले होते हैं । वनस्पति, शस्य एवं प्रजा के बाहुल्य और सम्पन्नता से तात्त्विक एवं मार्मिक विचारों के सुलभ वायुमण्डल का होना भी स्वाभाविक है ।

जिस किसी ने भारत के चरम दक्षणीय स्थान पर प्रतिष्ठित कन्याकुमारी की मूर्ति को देखा है उन्हें यह विश्वास है कि भारतवर्ष की धार्मिक आत्मा सुसंचित और मूर्तिमान् हो कर, अनन्त वीचिमय-सृष्टि-महासागर के आवरण के परे, किन्तु निसर्ग की उत्कृष्ट अभिव्यक्तियों से साक्षात् विनिर्मित—व्योमकेश, चन्द्रचूड़, सिताङ्ग, गंगेश्वर, सृष्टिस्थितिसंहृति-ऊर्मि-नर्त्तक, त्रिलोचन, अभ्युदय निःश्रेयस—अधिनायक,—महेश्वर के सम्मिलन की गम्भीर प्रतीक्षा, तल्लीन हो कर कर रही है । ऐसा ज्ञात होता है कि इस तल्लीनतामयी परम आशावती प्रतीक्षा के प्रतिध्वनि और प्रतिबिम्ब के स्वरूप में ही निसर्ग में उपरोक्त चित्र महेश्वर का चित्रित है ।

यह चित्र अथवा तदिच्छासंभूत रूप आर्य-कल्पना की वस्तु है अथवा अनार्यभावोद्भूत इस बात के विचार के लिये किसी को स्थान ही नहीं है । यह रूप इतना आदिम, इतना नैसर्गिक एवं इतना स्वभाव-विहित है कि इस के संबन्ध में आर्य अनार्य तत्त्वों का वर्गीकरण अत्यन्त गौण और तुच्छ है । इस में इतना समन्वय तथा व्याप्ति है कि जगत् की सब जातियों ने इस स्रोत से अपने विश्वास, विचार, दर्शन एवं साधना के लिये प्रकाश और प्रकार उधार लिया है । भारतवर्ष की यह विशेषता है कि श्रुतियों से ले कर श्वपच तक आदिदेव देवदेव और 'शंकर, हर, शिवयोगी'के रूप और नाम से पूर्ण परिचित हैं । एक यदि गाते हैं:—

"ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ।
नमः शंकराय च मयस्कराय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥"

तो दूसरे कहते हैं:—

जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जिन्ह पान किय ।
तेहि न भजसि मतिमन्द, को कृपालु शंकर सरिस ॥

जब प्रकृति के तत्त्वों में प्रत्यक्ष महेश्वर का स्वरूप लक्षित है तब यह कहना कि प्रकृति के बच्चों अर्थात् पृथ्वी की अज्ञान एवं सज्ञान जातियों में, शरीरधर्म प्रेरित एवं भूतभावन सर्वलोकेश्वर की भावना-पूजा निर्विवाद व्याप्त है, एक साधारण बात है ।

जिसको जड़ जगत् कहते हैं वहाँ भी धवल-हिमाच्छादित पर्वतशृङ्ग उसी की मौन स्मृति उत्पन्न करते हैं और राशि राशि सुमन नित्य नित्य खिल कर पीठिकासंयुत लिंगइंगित से उसी की अर्चना सुरभि और प्रकाश से करते रहते हैं ।

आधुनिक विज्ञान भौतिक जगत् के रूप में तीन पक्ष स्थापित करता है—लंबाई, चौड़ाई तथा मोटाई । क्या ये तीनों पक्ष एकाक्षर ब्रह्म के व्यक्त रूप की तीन मात्रायें नहीं हैं जो छिपे छिपे अर्थात् अर्द्धमात्रा के भाव से आदिकारण ब्रह्म को संकेत करती हैं ? लम्बाई अर्थात् सरल रेखा से परम मार्मिक लिंगलक्षित रूप, शिव का, व्यक्त होता है । सरल रेखा स्वयं कुछ नहीं है परन्तु वह वस्तुतः वक्रता का या यह कहिये वृत्ति का एक अंशमात्र

है। वृत्ति ब्रह्मव्यक्ति की पीठिका है। पीठिका में विस्तार प्रधान और घनत्व गौण है। वह लम्बाई और चौड़ाई का अनुपम योग अथवा योगफल है। इस प्रकार आधुनिक परमोत्कृष्ट विज्ञानविचार की, वस्तुअनुसन्धानकर्त्री दृष्टि में भी यथार्थ वस्तु पीठिकायुत शिवलिंग ही है—शिवाशिव लीला ही है। उस की दृष्टि केवल जगत् के रूप की ही ओर है अतः वह तीन पक्षोंके अतिरिक्त तुरीयपक्ष (Life) चेतनता और उस के परे आनन्द तक गति नहीं पाता है।

हमारा कार्य यह है कि महिमामयी प्राचीन प्रणाली से—और नवीन दृष्टिकोण से भी—परम गूढ़ और गुरु शिवाशिवलीलाप्रेम और उस के परम तत्व को प्रचारित और प्रतिष्ठित करें जिस से कि पुरुष के वास्तविक पथ और उस के पुरुषार्थका ज्ञान या यों कहिये पुनः स्मृति निरन्तर जागृत रहे।

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनल स्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश य
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति।

कला, कौशल, विज्ञान के उन्नत भौतिक युग में इस डोकरियावाद की क्या आवश्यकता है? जल सेनाओं की महिमागर्वित चमक, सैन्यबल की अदम्य दमक, उत्कृष्ट राज्यविस्तार की धमक, व्यापारिक वृद्धि सम्पन्नता के हर्षनाद, कलाकौशल-जनित सुविधाओं के संगीत, शारीरिक सुखों की तृप्ति एवं उस की प्रत्यक्ष, निस्संदेह प्रधानता, और प्रकृतिविजयगर्वोल्लसित और धार्मिक पोपपंथी थोथपन से मुक्त, स्थाभिमान-प्रवुद्ध, उन्मुक्त, नूतन मनुष्य के सामने—स्मशानी, जटिल, भस्मधनी, त्रिषाङ्क, दिगम्बर, अकिञ्चन, अनिश्चित, लँगोटिया, विरस-धर्म की तान छेड़ने से क्या प्रयोजन? प्राचीन भारत की ओर हमारा मुख करना और आर्य आदर्शों एवं संस्कृत साहित्यानुसन्धान के लिये हमें संबुद्ध और प्रचेत करना क्या असम्बद्ध-प्रलाप नहीं है?—क्या यह उलटी प्रगति का उपदेश नहीं है? पाश्चात्य विज्ञान और कला के महल से निकाल कर क्या यह हमें झोंपड़ों में लाने का प्रच्छन्न प्रयत्न नहीं है?

कदाचित् नहीं! परोक्षवाद और ईश्वर तत्त्व में अविश्वासी भौतिक उन्नतिप्रधान पाश्चात्य सभ्यता उदरयुद्ध और स्पर्धा (Struggle for existence and competitive Spirit) के मारक जीवनतत्वों पर निर्भर और पर-कवलापहरण नीति से परिपोषित है। वस्तुमूल्यप्रधान किन्तु मनुष्यमूल्य को न समझनेवाला या यों कहिये मनुष्यमूल्य को वस्तु-मूल्यतुलापर तोलनेवाला पश्चिमी जीवनादर्श एकांगी है। समृद्धि सागर में रहते हुये भी वह पिपासार्दित है। केवल आदान और अधिकार में व्यस्त हो कर वह प्रदान और कर्तव्य के अलौकिक आनन्द को यथेष्ट नहीं देख पाता है। अतएव उदरयुद्ध के सिद्धान्त के अनुगामी भौतिक तत्वविद् अपने सिद्धान्त का निषेध मातापुत्र संबंध में पशुजगत् में भी देख कर एवं विश्ववृद्धिकरण के रूखे कार्य में काम-सौन्दर्य और आकर्षण को संपुटित देख कर न केवल चकित होते रहे हैं परन्तु मन ही मन एक निर्मायक, सचेतन और अज्ञेय शक्ति का अनुभव भी करते रहे हैं, यद्यपि उसे अप्रमेय आभासमात्र मान कर अपनी सभ्यता के उपादानार्जन में कोई सफल स्थान नहीं देते रहे हैं।

डोकरीवाद और झोंपड़ीवाद के भय से भाग कर प्रकृतिविजय के प्रयत्नों में एवं प्रकृति की उपासना में उन्हों ने शरण ली और फल हुआ है एक आदर्श जो स्वयं संग्रहात्मक (Acquisitive) तथा उपकरण प्रधान है। सामान और उपकरण को प्रधान मानने से और उन के बाहुल्य और न्यूनता को ही मनुष्य का धन और विभूति और श्रेय मानने से—और इन वस्तुओं को केवल गौण और मनुष्य के वास्तविक पुरुषार्थ आध्यात्मिक उन्नति का साधन न माननेसे—मनुष्य समाज विरोधात्मक दलों में विभक्त हो जाता है जिस के लक्षण युद्ध, विस्फोट, क्रान्ति और आर्थिक और राजनीतिक विशृंखलायें हैं। आधुनिक पाश्चात्य समाजशास्त्री दोनों कलहवादी दलों को सामञ्जस्य प्रदान करने वाले सिद्धान्तों की खोज में हैं और बराबर उन्हीं

भौतिक आदर्शों पर निर्भर उपायों को सम्मुख रखते और असफल होते रहते हैं जिन आदर्शों का तत्व ही कच्चा और एकांगी है।

यह समझना भूल होगी कि हमारा अर्थ ऐतिहासिक प्राचीनताको तद्रूपही पुनः स्थापित करना है। हम तो चाहते हैं झोंपड़ीवाद तथा डोकरीवाद के जीवनसंस्थापक और निःश्रेयस्कर सिद्धान्तों की भक्ति और परिवर्तित परिस्थितियों में भी उन का प्रयोग। जहाँ एक ओर भौतिक उन्नति की भित्ति आध्यात्मिक समुन्नति ही हो सकती है वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक आधारक्षेत्र तब तक सफल न समझना चाहिये जब तक उस क्षेत्र में सुचारुरूप से भौतिक उन्नति के पुष्प खिलानेकी शक्ति न हो। काम और अर्थ यदि शरीर हैं तो धर्म और मोक्ष ही प्राण हैं। प्रखर आध्यात्मिकता यद्यपि मनुष्य का चरम श्रेयस्कर लक्ष्य है परन्तु प्रकट जीवन भौतिक होने के कारण—एवं आध्यात्मिकता प्राप्ति का आधार पात्र भौतिक उपकरण, और उस के दृष्टसृष्टिसंपर्क होने के कारण, उत्कृष्ट भौतिकत्व भी हमारा अर्थ और काम है किन्तु इसी लिये कि वह आध्यात्मिक कल्याण की प्राप्ति सम्भव बनावे और इस लिये नहीं कि वही जीवन का परम पुरुषार्थ बन बैठे।

धार्मिक भावना का मूल्य और उस की आवश्यकता वर्तमान युग में निर्विवाद है।

श्रौत स्मार्त धर्म तथा उमामहेश्वर के अत्यंत मार्मिकरूप एवं उस की गम्भीरता, मौलिकता, व्यापकता और कला, साहित्य और जीवन में उस के नाना भावों और रूपों की अवस्थिति के विषय में चर्चा, निरूपण और प्रचार कितना आवश्यक है इसे भारतीय धर्म के प्रेमी अनुभव करते होंगे। उन्हीं की प्रेरणा, उन्हीं की सदिच्छा एवं उन्हीं की अन्तर्भावना का प्रकाशन, 'पुरुषार्थ' है जो उन्हीं की छत्रच्छाया में, उन्हीं के आशार्वचन के अनुरूप धर्म, अर्थ, काम मोक्ष को प्रतिपादित कर के व्यक्ति और समाज के सामञ्जस्य से अभ्युदय और आत्मा परमात्मा के एकीकरण से निःश्रेयस् हमें प्राप्त कराने में सहायता देगा।
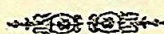
चित्र-परिचय

१. श्री गणेशपुरुषार्थ।

यह आवरण पृष्ठ पर है। यह इस पत्र के उद्देश्य, नीति और कार्य क्षेत्र का तूलिका द्वारा चित्रण है। उमामहेश्वर और महेश्वर के पद्मपाणि में शोभा-प्रमान त्राण और प्रलय सूचक त्रिशूल सब से प्रथम दृष्टि को आकृष्ट कर लेते हैं। तत्क्षण ही श्री जगज्जननी उमा के वात्सल्यभाव पूर्णहृदय की आनंद साविनी तरंगें जो उनकी मंद मुस्कान में उद्वेल्लित हैं, भव दुखतप्त हृदय को संजीवनौंधि के भाँति प्रफुल्लित करदेती हैं। हिमाच्छादित धवल कैलाश शिखर का वह पुण्यस्थल जो उनकी प्रभापुंज से भासमान है आखों के सामने आकर शैलसुषुमा की समस्त छटाओं को लहरा देता है। इस शोभा का आनन्द लेते हुये बालरूप गनराज (जीवात्मा), जिन्हें किसी अव्यक्त और अज्ञेय हेतु "गिरि तें, गरेतें, गौरा गोद तें उतारैं ना", शैशवसहचर अकुतोभय भाव और मूर्तिमान आनद की तन्मयता की मंथर गति से हिमावृत शिलाओं पर उमामहेश्वर (अपने उद्गम) की ओर अग्रसर होते हुये दृष्टिगत होते हैं।

हम लोगों का इस "पुरुषार्थ" के श्रीगणेश

करने का साहस और अयोजन इन्हीं प्रथम पुरुषार्था-गार आद्यपूज्य गनपति के वाल-पुरुषार्थ से प्रभावित और प्रेरित हुआ है। और 'शनैःपर्वत लंघनम्' इस नीति वाक्य के सहारे तथा इसी आदर्श के बल पर उमामहेश्वर की निर्व्याज दया द्वारा उन तक पहुँचने का हमारा ध्येय यह चित्र व्यंजित करता है।

२. पंचाक्षरी महाविद्या।

तीनों लोकों के कल्याण साधन का परम पुरुषार्थबीजभूत पंचाक्षरमंत्र, की जो उमामहेश्वर की बिहारभूमि है, अधिष्ठात्री देवता पाठकों अभिमुख समस्त कामनाओं के देने के लिये प्रस्तुत हैं। इसकी गुरुपदिष्टमार्ग से धारणा और आराधना करने से किसी को भी कोई पदार्थ दुस्साध्य और अप्राप्य नहीं है।

मुद्रक:—श्री कृष्ण बिहारी सेठ, सेठ प्रिंटिंग प्रेस, गोंडा।
प्रकाशक:—श्री शान्तिप्रसाद शुक्ल एम० ए०, पुरुषार्थ कार्यालय, गोंडा।

पुरुषार्थ
श्रावण, भाद्रपद
संवत् १९९१ ।
भाग
१.
सम्पादक—
रामलाल तिवारी शास्त्री
शान्तिप्रसाद शुक्ल एम०ए०
सं०
२, ३
वार्षिक मूल्य ३)
एक अङ्क का ।-)

विषय सूची।

विषपान

[श्री बा० गौरीशंकरजी के सौजन्य से प्राप्त]

अकाण्ड ब्रह्माण्ड क्षय चकित देवासुर कृपा—
विधेयस्याऽऽसीद्य स्त्रिनयनविषं संहृतवतः ।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवन भयभङ्गव्यसनिनः ॥ (महिम्न०) ॥

हे त्रिलोचन ! अचानक ब्रह्माण्ड के क्षय की सम्भावना से घबराये हुए देवतागण और असुरगण के ऊपर कृपा करके काल कूट विष को पी लेने वाले आपके कण्ठ में जो कालिमा उत्पन्न होगई वह शोभा नहीं करती—ऐसा नहीं है अर्थात् अत्यंत शोभा को बढ़ा रही है। आश्चर्य है कि समस्त संसार के भय को मूल सहित काटने के व्यसनवाले आपके अंग की नीलिमा भी प्रशंसनीय है।

'शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः।
पुरुषार्थः शिवः सर्वं शिवादन्यन्न किञ्चन'॥

पुरुषार्थ

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ प्रवर्तिनीम्
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः।

कालिदासः

भाग १ } गोंडा, श्रावण, भाद्रपद, १९९१ { संख्या २

विषपान

(लेखिका—श्रीमती "वाणी" जी)

देखत जहर ज्वाल भयभीत देव दैत्य,
करत विचार हरै संकट उताली को।
सबही को कम्पित विलोकि तब विष्णु कह्यो,
शम्भु छाँड़ि टारै यह विपति कराली को॥
विनय की 'वाणी' सुनि ह्वै प्रसन्न आशुतोष,
सब-हित घूँट्यो विषज्वाल विकराली को।
स्वारथी देवन ने लियो सब रत्न बाँटि,
भोलो जानि विषहि पियायो मुंडमाली को॥

गणपति पूजा

(ले०—बाबू भगवानदास, बनारस)
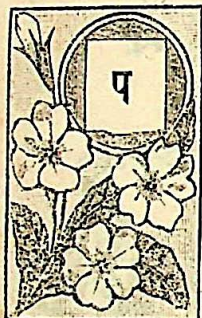
पश्चिम की रीति से पढ़े-लिखे विद्वान् यह कहते हैं कि गणेश मूलतः आर्यों के देवता नहीं, किन्तु भारतवर्ष की किसी असभ्य प्राचीन जाति के विकृतरूप देवता हैं, जिनको आर्य लोगों ने उस असभ्य जाति को जीतने के बाद उसके सांत्वनार्थ अपनी देवमण्डली में मिला लिया। इस विचार में कितना अंश सत्य है कितना मिथ्या, इसके विवेचन की शक्ति मुझ में नहीं। इसका निर्णय आपके महाविद्यालय के महा पंडित पुरातत्ववेत्ता अपनी सूक्ष्मेक्षिका से करेंगे। मैं तो श्री गणेशजी के स्थूलकाय के अनुरूप स्थूल दृष्टि से इतना ही देखता हूँ कि, पहिले जो कुछ रहे हों, अब तो ये आर्यों के परम आर्यदेव, विकृत रूप होते हुये भी बड़े सुन्दर रूपक के आश्रय, हो रहे हैं। तो भी यहाँ इतना कहना अनुचित न होगा कि इन पाश्चात्य विद्वानों का विचार सर्वथा निर्मूल नहीं है। मानव गृह्य-सूत्र (२। १४) से जान पड़ता है कि पहिले चार विनायक माने जाते थे, (१) शालकटंकट, (२) कूष्मांड राजपुत्र, (३) अजस्मित, (४) देवयजन। तथा यह माना जाता था कि ये मनुष्यों में, स्त्रियों में, बालकों में, प्रेतवत् आवेश प्रवेश करके विविध उपद्रव करते कराते थे। और इनकी शांति मद्य-मांसादिक के अर्पण तर्पण से की जाती थी, जैसा आजकल भी, विशेषकर "छोटी" अथवा "नीच" कहलानेवाली जातियों में, और पर्वतों में अधिकतर, झाड़ फूँक, टोना-टोटका, उतारा डोला आदि के विविध उपचारों प्रकारों से भूत प्रेतादि की और रोगादि की की जाती है। याज्ञवल्क्यस्मृति के समय तक ये चार एकत्र करके एक बना लिये गये थे, पर नाम इस एक उपदेव के छः रहे, जो उक्त चार के ही रूपांतर हैं, यथा, शाल, कटंकट, कूष्मांड, राजपुत्र, मित और सम्मित (१-२७०,२८५)।

इस परिवर्तन से क्या अर्थ निकालना चाहिये? बात यह है कि सभी संसार परिवर्त्तनशील है। सभ्यता शालीनता, इष्ट पूज्य, पूजा अर्चा, विश्वास आचार, रहन-सहन, सभी के रूप बदलते रहते हैं। मूलतत्त्व, जिनका प्रतिपादन दर्शनों में किया है, वे नहीं बदलते। मनुष्य की परिवर्त्तमान प्रकृति के अनुसार उसकी सभी सामग्री बदलती रहती है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।
यजंते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः।
(गीता)
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः।
(रामायण)
देवान् देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि॥
(गीता)

"श्रद्धा ही पुरुष का स्वभाव है, तात्त्विक स्वरूप है, जिसकी जो श्रद्धा है, हृदय की इच्छा है, वही वह है। सात्त्विक जीव देवों को पूजते हैं, राजस यक्ष राक्षसों को, तामस भूत-प्रेतों को। जो अन्न मनुष्य खाता है वही उसके देवता खाते हैं। देवताओं के पूजनेवाले देवताओं के पास जाते हैं, मेरा भक्त मेरे पास आता है।"

अर्थात् तामस प्रकृति के मनुष्यों के देवता भी तामस, राजसों के राजस, सात्त्विकों के सात्त्विक। गुणों से परे, गुणों के मालिक, आत्मा को पहिचाननेवाले आत्मवानों के लिये एक आत्मा सर्व-व्यापी सर्व देवमय ही देवता है।

ज्यों ज्यों मनुष्यों की प्रकृति में उत्कर्ष होता है त्यों त्यों उनके देवताओं में भी

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राजस तामस उपदेवता कहिये, शक्तियाँ कहिये, भूत-प्रेत-पिशाचादि कहिये सर्वथा मिथ्या है, केवल कल्पना हैं, अत्यंतासत् हैं। ऐसा नहीं। उनमें भी वैसी व्यावहारिक सत्ता है जैसी सात्त्विकों में। किंतु पूजकों की भावना कल्पना वासना के अनुसार भावित इष्ट का आकार और बल भी होता है, घटता, बढ़ता और बदलता है।

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी

मननात् त्रायते इति मंत्रः। मंत्र मूर्त्तिर्देवः।
भक्तानामनुकं पार्थ देवो विग्रहवान भवेत्।
ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
इत्यादि।

"मनन करने से जो त्राण करे वह मंत्र। देव की मूर्त्ति मंत्र है, मंत्रानुसार है। निराकार परमात्मा भक्तों के अनुग्रह के लिये उन की भावना के अनुसार विग्रह अर्थात् शरीर धारण कर लेता है। जो जैसा मुझे भजते हैं मैं भी उन्हें वैसा ही भजता हूँ।

यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि मनुष्य जैसे प्रकृति के दृश्य स्थूल पदार्थों और पशुओं से अपने प्रयोजनानुसार काम लेता है और उन के आकार प्रकार बदल लेता है और उन को सिखा लेता है, वैसे ही अदृश्य, अल्पदृश्य, सूक्ष्म देवोपदेव के विषय में भी। पर इन के विषय में मानस भावना मुख्य साधन है। जंगली मनुष्य की सामग्री, हथियार आदि जंगली होती है, नागरिककी नागरिक परिष्कृत संस्कृत। क्रमशः उत्कर्ष होता है। उत्कर्ष और परिवर्त्तन हो सकने में हेतु यह है कि तीनों गुण सत्त्व, रजस्, तमस्, सर्वदा अन्योन्य-संबद्ध और अपृथक्‌कार्य हैं। रुद्र ही शिवशंकर हो जाते हैं, भव ही संहारकर्त्ता हर हो जाते हैं। विष्णु ही मत्स्य, कूर्म, बाराह, नरसिंह, वामन आदि। गौरी ही काली, चंडिका ही अन्नपूर्णा। वही मनुष्य अभी स्नेही, अभी क्रोधी, अभी हँस-मुख, अभी रोनीसूरत, अभी आलसी अभी उत्साही।

निष्कर्ष यह कि पूर्व रूप गणेश जी चाहे विकट शालकटंकट आदिका रहा हो पर अब तो चिरकाल से शुद्धि और संस्कार होते होते सर्वप्रिय गोलमाल बालक का हो गया है।

एक सुन्दर भवन को यदि कोई कहे कि यह मूलतः मृत्तिका है तो अवश्य अंशतः सत्य है। पर क्या सर्वथा सत्य है? क्या वह केवल मृत्तिका ही है? क्या इस में इस के बनानेवालों की बुद्धि का सौन्दर्य नहीं है? हम सबके शरीर ही पाँच भौतिक हैं। पर क्या केवल पंचभूत ही इनमें हैं? आत्मा भी तो है। गणेश जी चाहे कहीं से आये हों, इस समय तो सब देवताओं के आगे उन की पूजा हो रही है। उन की उत्पत्ति के पौराणिक आख्यान ही कहते हैं कि वे मिट्टी से बनाये गये। पर बनानेवाले की शक्ति भी उन में है, और इस कारण पीछे जो उन की महिमा हुई वह उन के नाम ही से सिद्ध है, 'सर्वदेवगणानां ईशः पतिः, गणपतिः, गणेशः।' भिन्न भिन्न पुराणों में थोड़े थोड़े भेद से कथा कही है, पर मुख्य बातें समान हैं। शिवपुराण की ज्ञान संहिता में कहा है:—

कियता चैव कालेन जया च विजया सखी।
पार्वत्या च मिलित्वा च विचार तत्पराऽभवत्॥
रुद्रस्य च गणाः सर्वे नंदि भृङ्गि पुरः सराः।
प्रथमाश्च ह्यसंख्याता ह्यस्मदीयो न कश्चन॥
द्वारि तिष्ठन्ति सर्वेऽपि शिवस्याज्ञा परायणाः।
इत्युक्ता पार्वती देवी सखीभ्यां रुचिरं वचः॥
मदीयः सेवकः कश्चिद् भवेच्छुभतरस्तदा।
ममाज्ञायाः परं नान्यद्रेखा मात्रं चलेदिह॥
इति विचार्य सा देवी करयोर्जलसंभवम्।
पंकं मुत्सार्य तेनैव निर्ममे पुत्रकं शुभम्॥

दलादली

अर्थात्—पर्वत की बेटी पार्वती की दो सखी जया और विजया। नाम ही से इन लड़कियों की लड़ाकी प्रकृति का परिचय होता है। पर्वतनिवासी

जातियाँ प्रायः दूसरों से जित विजित नहीं होतीं, स्वयं दूसरों पर जय विजय पाती रहती हैं। इन दोनों ने पार्वती को सलाह दी कि रुद्र जी के तो नन्दी, भृङ्गी आदि असंख्य प्रमथगण नौकर हैं जो सदा उन की आज्ञापालन के लिये मरे जाते हैं, पर आप का कोई एक नौकर भी नहीं जो आप के कहे को रेखमात्र भी न टाले। बस क्या पूछना था। ऐसी सलाह तो झट मन में बैठ ही जाती है। घर में पहिले छोटे बच्चे लड़ते हैं, तब उन की धाय अपनी अपनायती दिखाने को लड़ती है फिर उनकी माय उनका उनका पक्ष लेकर लड़ती हैं, फिर उनके बापों को, आपस के सगे भाइयों को विवश होकर लड़ना पड़ता है। और चूल्हे अलग अलग किये जाते हैं। जो दशा मनुष्य-लोक की सो दशा देव-लोक की। जीव की प्रकृति तो रागद्वेषात्मक सभी लोकों में एक सी है। पार्वती देवी ने पानी मिट्टी से (किसी पुराण में लिखा है, अपने पसीने की मैल से) भादों सुदी चौथ को खूब मोटा ताज़ा बेटा बना कर महल के दरवाज़े पर खड़ा कर दिया और हुक्म दे दिया कि कोई न आने पावे, विशेष कर के शिव शंकर तो आने ही न पावें।

गणपति जी की सृष्टि तुल्याधिकार की अभिलाषा और प्रतिस्पर्धा से हुई। आजकल भी प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है कि तुल्याधिकार के दावे से ही तो दलबन्दी होती है। और दल हुआ तो उस दल के अर्थात् गण के पति की, नेता-नायक की आवश्यकता होती है, और नायक बनाये जाते हैं, चाहे मिट्टी ही के क्यों न हों। इसी वास्ते गणपति का दूसरा नाम भी वैसा ही अन्वर्थ और अर्थगर्भ है। विनायक 'लीडर' शब्द का अर्थ ही है, विशिष्टो नायकः।

अच्छा तो अब नायक ही हो के क्या लाभ जो दलों में भिड़न्त न हो? बिना इस के दलादली का रस कैसे आवे? तो गणेश जी को हुक्म हुआ कि शिव जी को रोक देना। 'लीडर' लोग, दल-पति, गणपति, लोग अपने दल की टेक रखने के लिये शिव को भी, भलाई को भी, रोक देते हैं, जब तक अपने हाथों से न हो।

शिव तो आनेवाले थे ही। फाटक पर रोके गये। नया अपमान और बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने गणों को आज्ञा दी कि इस को समझाओ फिर 'हटाओ' की नौबत आई, फिर 'मारो' की। हुई मार पीट। गणपति तो मोटे ताज़े खास इस काम के लिये बनाये ही गये थे।

भवद्भवलदेहलीविकटतुराढदंडाहति-
त्रुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते ॥
"सूँड़ का झपेट टूटत मुकुट देवराज को।"

शिव के गणों को उन्हों ने मार भगाया। और जिन देवों को इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि को, अपनी सहायता के लिये वे बुला लाये उन की भी यही दशा हुई। इधर से चंडिका लोग सब प्रकार से अपने गणपति की सहायता करती रहीं। अन्त में आगे से विष्णु लड़ने आये, उन से गणपति जी लड़ने में जो उलझे तो शिव ने मौक़ा पा कर पीछे से जाकर गणपति का शिर त्रिशूल से काट डाला। दूसरे दल के लीडरों को धोखे से भी परास्त करना आज काल भी शुद्ध धर्म समझा जाता है। और भी अर्थ हो सकता है।

विसिनोति, व्याप्नोति, जगत् सर्वं इति विष्णुः,

महत्तत्त्व बुद्धितत्त्व का सारभूत, परम सात्त्विक, अव्यक्त हो कर व्यापक, आध्यात्मिक ज्ञान। यदि अहंकार को तामस राजस बुद्धि से प्रेरित, अज्ञानी, अल्पज्ञानी, कोई जीव उस ज्ञान से लड़ेगा तो उस जीव का शिरच्छेद शिव-रुद्ररूपी उत्तम तमस् द्वारा होना उचित ही है। आगे चल के इस का फल अच्छा होगा। पर इस जीत का फल तत्काल अच्छा नहीं हुआ। चंडिका देवियाँ परम क्रुद्ध हुईं। बच्चे पर आपत्ति आवे तो गाय भी सिंहिनी हो जाय। प्रलय की तैयारी हो गई। जब मियाँ बीबी में लड़ाई ठने तो सिवाय गृहस्थी के प्रलय के और क्या हो सकता है। सर्वनाश होते देख कर नारदादि ऋषियों ने, जो उस समय के "एडिटर", पत्र-सम्पादक-स्थानीय थे, इधर उधर की "रिपोर्ट" जमा किया करते थे, संसार का हाल घूम घूम कर बड़े शौक़ से देखा करते थे,

और कलह और युद्ध में विशेष रस मानते थे, क्योंकि इन के बिना तो 'पेपर" की बिक्री ही कम हो जाय—इन ऋषियों ने दोनों पक्षों को, "मैन वर्सस वुमन", को समझा बुझा कर सुलह कराई। प्रलय ही हो जाय तो फिर तमाशा देखने को कहाँ मिले, "पेपर" बिल्कुल बन्द ही हो जाय। यदि अज्ञान का सर्वथा उच्छेद हो जाय तो ज्ञान का भी प्रयोजन बाक़ी न रह जाय, सृष्टि समाप्त हो जाय, लीला बन्द हो जाय। चाहिये यह कि अज्ञान थोड़ी मात्रा में बना रहे, और ज्ञान की हुकूमत उस पर हो, तब लीला में सुख आवे। इस लिये विनायक के रूप में परिवर्त्तन होना आवश्यक हुआ। गणेश जी का अपना पहिला निर्बुद्धि लड़ाके लड़के का शिर तो मिला नहीं; नष्ट हो गया, विष्णु कहीं से खोज कर एक दाँत वाले हाथी का शिर उठा लाये, वही चिपका दिया गया, और गणेश जी चंगे हो कर चटपट उठ बैठे। "लीडर" को, गणपति को, सबसे बड़ा मूँड़ चाहिये ही। पार्वती के पुत्र तो थे ही, शिव ने भी उनको अपना बड़ा पुत्र माना, और गणमात्र के पति नियुक्त हो गये। सभी गणों के।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे।

गणपति की प्रतिष्ठापना तथा विवाह

पर सूखे साखे नीरस कुरस महा झंझटवाले गणपतित्व से गणेश जी को संतोष नहीं हुआ। "लीडर" लोगों को कुछ मिहनत के बदले रस भी तो मिलना चाहिये। थोड़ा अज्ञान तो रही गया है। फ़र्माइश की कि मेरा व्याह भी होना चाहिये। पर 'लीडर' महाशय अकेले कहाँ लीडरी का रस चीखने पाते हैं? शंकर के पहिले पुत्र छः मुख वाले जिन के कई नाम हैं, षण्मुख, कार्त्तिकेय, स्वामिकार्त्तिक, साम्ब, सुब्रह्मण्य, सनत्कुमारावतार, गुह, कुमार, स्कंद, महासेन, तारकारि, आदि वे भी आ पहुँचे। एक एक नाम का अर्थ है। छः मुख से छः कृत्तिकाओं का दूध पीया था।

वि यस्तस्तम्भ षड् इमा रजांसि।
अजस्य रूपे किमपिस्विदेकम्॥

(ऋग्वेद)

सौर सम्प्रदाय में, सौर जगत् में, सौर ब्रह्मांड में, जो पृथ्वी के सदृश छः अन्य ग्रह आकाश में थमे हुये घूम रहे हैं, उन में से अनेकानेक जन्म जन्मान्तरों में घूमता हुआ, सब का अनुभव कर के सब का ज्ञान संचय करके, सब के दूध से पुष्ट हो कर, जो महापराक्रमी जीव इस पृथ्वी पर देवसेना का सेनानी हो कर आ टपका है, वह षण्मुख, स्कंद, गणपति का भी बड़ा भाई। 'लीडरी' में हिस्सा लगाने को, काम में अड़चन डालने को और 'लीडर' को बहँकने से रोकने को भी, ऐसे बड़े भाई लोग आ ही जाते हैं।

अच्छा तो स्कंद जी ने भी और गणपति जी ने भी साथ ही व्याह की फर्माइश की। और मेरा आगे, मेरा आगे, की स्पर्धा हुई। जान छुड़ाने के लिये और समय टालने के लिये शिवजी ने कहा कि तुम दो में से जो पृथ्वी-प्रदक्षिणा कर के पहिले लौट आवे उसका व्याह किया जायगा। आज-काल कालापानी की बड़ी नाव पर पैर रखते ही हिन्दू को हिन्दू के भाई जाति बाहर कर देते हैं। पहिले समय में सात समुद्र पार कर के सारी पृथ्वी की परिक्रमा का साहस दिखाये बिना व्याह ही नहीं होता था। बोदे बेहिम्मत को कौन कन्या दे? अस्तु। षण्मुख जी फिर भी अपनी पुरानी घुमन्तू प्रकृति के अनुसार झट लाठी उठा कर पृथ्वी-परिक्रमा को चल दिये।

गणेश जी ने क्या किया? गणेश जी भी उठे, और सात बेर शिव-पार्वती की परिक्रमा कर के सामने खड़े हो गये।

"अब्बा जी, अम्मा जी व्याह कर दीजिये।"

"पृथ्वी-परिक्रमा को न कहा था?"

आप ने एक बेर को कहा था, मैं तो सात बेर कर चुका, आप ने देखा ही नहीं?"

"कैसे"?

"आप की और माता की, पुरुष परमात्मा की और उमा माया प्रकृति की, कई बेर परिक्रमा कर लिया, अपनी बुद्धि के भीतर ही इन का तत्त्व

पहिचान लिया, तो फिर इन के बाहर कौन पृथ्वी है जिस की परिक्रमा बाक़ी है ?"

"सचमुच तुम बुद्धिसागर हो, तुम्हारा ही व्याह पहिले होना चाहिये।"

चले शंकर-पार्वती कन्या की खोज में। ढूँढते ढूँढते विश्वकर्मा विश्वरूप की दो कन्या, बुद्धि और सिद्धि मिलीं। उनसे व्याह किया गया। यही दो तो समस्त विश्व की सारभूत रत्न हैं।

इत्युक्त्वा तु समाश्वास्य गणेशं बुद्धि सागरम्।
विवाहकरणे तौ च मतिं चक्रतुरुत्तमाम्॥
एतस्मिन्नंतरे तत्र विश्वरूपसुते उभे।
सिद्धिबुद्धि इति ख्याते सर्वांगसुन्दरे शुभे।
ताभ्यां चैव गणेशस्य विवाहं चक्रतुर्मुदा॥
यथा चैव शिवस्यैव गिरिजाया मनोरथः।
तथा च विश्वकर्माऽसौ विवाहं कृतवांस्तदा॥
कियता चैव कालेन तस्य पुत्रौ बभूवतुः।
सिद्धेर्लक्ष्यस्तथा बुद्धेर्लाभः परमशोभनः॥

मालूम पड़ता है कि जहेज भी कुछ ठहराया गया था, नहीं तो यह तो जरूर ही करार विश्वकर्मा से करा लिया गया था कि खिलाना पिलाना बरात को अच्छी तरह। क्योंकि पुराण, जो कदापि झूठ नहीं कह सकता, और जिसमें क्षेपक का संदेह भी करना महापाप है, लिखता है कि जैसा जैसा शिव पार्वती का मनोरथ हुआ वैसा वैसा विचारे विश्वकर्मा ने विवाह में किया! न करता तो उसकी मुसीबत आ जाती। आजकल हिन्दुओं के विवाहों में देखही पड़ता है कि लड़कीवाले की क्या क्या फजीहत होती है।

अच्छा, विवाह हुआ, तो अब विवाह का फल भी होना चाहिये। तो सिद्धि को एक पुत्र हुआ, उसका नाम लक्ष। जैसे सिद्धि को उचित प्रसव लक्ष हुआ वैसेही बुद्धि को भी लाभ नामक पुत्र हुआ, अथवा लाभोपाय कहिये। बुद्धि तो लक्ष को और उसके लाभ के उपाय को, मार्ग को, निर्णय करती है, और क्रियाशक्ति, सिद्धिशक्ति, उस लक्ष्य को सिद्ध करती है, साध लेती है, लक्ष्य का लाभ कराती है।

गणपतित्व की कठिन शर्तें।

बस, गणपतिजी महाराज, सिद्धि और बुद्धि पत्नी, और लक्ष और लाभ को पुत्र, प्राप्त करके सुख से गृहस्थी करने लगे और सबके अग्र पूज्य बने। जिसको ऐसी गिरस्ती हो उसकी पूजा कौन न करे। और जो आजकल के शिक्षित महाशय एक-पत्नीव्रत पर बड़ा आग्रह करते हैं, उनको यदि ऐसी दो भार्यायें और ऐसे दो पुत्र मिलने का संभव देख पड़े, तो मैं समझता हूँ कि अवश्य ही वे अपना एक पत्नीव्रत का आग्रह छोड़ दें। पर, मित्रो, गणपति होने और ऐसी दो भार्या और ऐसे दो पुत्र मिलने के जो समय हैं; जो शर्तें हैं; उनका पालन करना सरल नहीं है, इसको खूब समझिये। पहिले एक सिद्धान्त पर, एक पक्ष पर, अटल होकर सबसे लड़ाई लड़ना और उसमें अपना सिर तक कटा देना फिर एक दाँतवाले एक हाथी का सिर पहिनना।

अपनी आँख के सामने की "हिस्ट्री" को, "इति+ह+आस" नहीं, बल्कि "इति+ह+अस्ति" को देखिये। जो जन "लीडर" बनना चाहते हैं, बुद्धि-पूर्वक, अपने यत्न से, अथवा अबुद्धि पूर्वक, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, पूर्व कर्मानुसार, दूसरों के हठ से, जबरदस्ती "लीडर" बनाये जाते हैं, उनको क्या क्या दुर्दशा भोगनी पड़ती है। पहिले तो वे प्रायः कुछ दिनों तक ऐकपाक्षिक और टेकी जिद्दी लड़ाके होते हैं। पर क्रमशः जब उनकी युद्ध-शक्ति देखकर कुछ लोग उनके साथ हो जाते हैं, तब उनको अपनी राय छोड़नी पड़ती है, और जो "सब की राय," अर्थात् भूयिष्ठ की राय हो, वह माननी पड़ती है, यथा "सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नं" तथा "सर्वं मुण्डं हस्तिमुण्डे निमग्नं।"

सबसे बड़ा सिर, बहुतर बहुतम मत का सिर, हाथी का है। उसमें भी दाँत एकही होना चाहिये। द्वन्द्व नहीं, द्वैत नहीं, द्विविधा नहीं। और भी।

मनुष्य के सिर में केवल ज्ञानेन्द्रिय और ज्ञान-शक्ति है, हाथी के मुण्ड में ज्ञान-शक्ति के साथ साथ प्रधान कर्मेन्द्रिय हस्तरूपी नासिका शुण्ड भी है। अर्थात् लीडर महाशय को ज्ञानी भी और कर्मण्य भी होना चाहिये। जो ऐसे ज्ञान-कर्म-आत्मक बहुमत को अपने कन्धे पर ओढ़कर सँभाल सकें, और छोटे से छोटे चूहों को भी और बड़े से बड़े हाथियों को भी एक ही घर में रख सकें, बल्कि हाथी का सूँड़ लेकर चूहों की पीठ पर इस नज़ाकत और होशियारी से बैठे कि चूहा चिपटा हो जाने के ठिकाने और भी चेतन और जानदार होकर दूसरे विरुद्ध दल वालों के रास्ते में बिल ही बिल कर दे, वे ही सब छोटों और बड़ों, का सम्मेलन कर के लीडरी, नायकी, चौधराहट, चतुर्धरता, पेशवाई, सर्वगणपतित्व को निबाह सकते हैं। यह सब तभी हो सकता है जब उन में कर्मयोगसाधक एकदंतात्मक अद्वैतभाव हो, दुजागरी नहीं, नहीं तो भेदबुद्धि जोर कर के दलों को छिन्न भिन्न कर देगी। एक को अधिक खुश किया तो दूसरे बिगड़े। दूसरे को ज्यादा अपनाया तो एक बिगड़े। महा कठिन काम है सब को खुश रखना। अंग्रेज़ी में कहावत है "प्लीज़ आल् प्लीज़ नन्", अर्थात् "सब को तोषण के जतन, सब को रोषण होय।" पर 'लीडर' को यही करना पड़ता है। यदि ठीक ठीक एकदल हो तो स्यात् कथंचित कुछ कृतार्थता पावै। और इस के साथ साथ 'लीडर' महाशय को 'लक्ष्य' का भी ज्ञान होना चाहिये, क्या लक्ष्य है, जिस की सिद्धि चाहिये, तथा उस के लाभ के उपाय की बुद्धि भी होनी चाहिये, और बड़ी एकदंतता, एकाग्रता, एकलक्ष्यता से उस के साधन में लगना चाहिये। "इक साधे सब ही सधे, सब साधे सब जाय।" नहीं तो लीडरी बहुत दिन तक नहीं चल सकती। बड़ी कठिन शर्तें हैं।

लक्ष्य और लाभोपाय और लाभ।

आजकल जो प्रायः नहीं देख पड़ता है कि न लक्ष्य का ही स्पष्ट ज्ञान है, न उस के लाभोपाय की सुविचारित सुव्यवस्थित बुद्धि है। विचारी सिद्धि कहाँ पास आवे। आप को क्या चाहिये, इस को यथाशक्ति सुस्पष्ट निर्णय कर लीजिये। तत्पश्चात् किस एक प्रकार से, अथवा किन किन विविध प्रकारों से, वह लक्ष्य प्राप्त हो सकता है इस को यथाशक्ति यथाबुद्धि पूरे परिश्रम से विचार कर के, लाभोपायों को स्थिर कर लीजिये। तब काम में प्रवृत्त हूजिये।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदं।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

(भारविः)

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर,
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

(भर्तृहरिः)

"जल्दबाज़ी से काम नहीं करना। अविवेक से बड़ी बड़ी आपत्तियाँ सिर पर पड़ती हैं। अच्छी तरह सोच विचार कर काम करने वाले के गुणों पर लुभा कर संपत्तियाँ आप ही उस के पास आती हैं। कार्य आरंभ करने के पूर्व पंडित को चाहिये कि अच्छी प्रकार उसके गुण और अवगुण को विचार ले और क्या परिणाम होगा इस का यथाशक्ति निश्चय कर ले। बहुत जल्दबाज़ी से किये हुये कामों का फल ऐसा हो जाता है कि मरते दम तक हृदय में काँटा चुभा और जला करता है।"

पर इस बात का अर्थ यह न लगा लीजियेगा कि चुप बैठना अच्छा है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलबुद्धिर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता)

"उचित कर्त्तव्य कार्य करने ही का अधिकार तुम को है, फल पाने का अधिकार नहीं है। कर्मका

फल तुझ को मिले—ऐसी बुद्धि मत करो, मत यह बुद्धि करो कि मैं कुछ कर्म न करूँ।"

काम भी अवश्य कीजिये, पर आगा-पीछा भी अवश्य पहिले सोच लीजिये, और फल को परमात्मा पर छोड़िये, तब गणपतित्व चमकेगा। §

(आगामी अंक में समाप्ति)

§ ग्रंथकर्त्ता की अनुमति से समन्वय से संकलित।

शंकर की विचित्रता

(लेखक—श्री पं० शान्तिप्रसाद जी शुक्ल, एम० ए० एल एल० बी०)

संस्मृति-विलास "शं" में "क" में है कराल काल ;
यथा पूर्व रचना की रेखा है "र"-कार में।
यह नृत्य-विन्यास नटराज का रहस्य-जाल ;
कल्प में विकल्प तथा संहार-प्रसार में।

❀ ❀ ❀ ❀

जीवन का स्वस्ति-कर,
मृत्यु का शमन-कर,
उभयस्थित-भस्म-कर,
बाल सुधा धर-धर।

❀ ❀

शम्भु, मदन-दहन-कर,
गिरिराज-सुता-वर।
हर, जयति प्रभव-कर,
प्रलयान्त-शंकर।

❀ ❀

छाया-(अन्योक्ति)

(ले०—श्री जगन्नाथप्रसाद, एम० ए०, एल एस० बी०, एल० टी०, अध्यापक, गुरुकुल, इन्द्रप्रस्थ)

(१)

तम में न तुम्हारा था नामोनिशान तुम्हें तम ने तम ही था बनाया।
तुम को उपजाया प्रकाश ही ने तुम को सुप्रकाश ही ने विकसाया॥
तुम ने पर कालिमा से अपनी उलटे ही प्रकाश में दाग लगाया।
यह काया की छाया तुम्हारी हे जीव! न देगी तुम्हें कभी मुक्ति की छाया॥

(२)

जब पूरब आया प्रकाश तुम्हारे तो पश्चिम की तुम ने तम-काया।
यदि पश्चिम आया प्रकाश तो पूरब में तम को तुम ने विकसाया।
जिस भाँति हुआ तुमने अपने तम का सुप्रकाश से प्राण बचाया।
यह काया की छाया तुम्हारी हे जीव! न देगी तुम्हें कभी मुक्ति की छाया॥

भक्तिरस पूर्ण उत्तर (छाया के पक्ष में)

तम-वृत्ति की है यह माया नहीं, अपनी यह व्यक्ति की है सरमाया।
यह तेज तुम्हारा घटाती नहीं यह मानव दुर्बलता की है काया॥
§स्वविकास के राह में जाल बिछा इस ने तव ज्योति सुरम्य बनाया।
इस छाया से मुक्ति मिले न प्रभो यह विश्व को देगी अवश्य सुछाया॥

तमग्रसित जीव की प्रकाश-रूपी ब्रह्म से अन्तिम प्रार्थना

तुम छेड़ो प्रकाश समान निरन्तर छाया समान बचाऊँ मैं काया।
तव-ज्योति के सामने छाया समान रहे मम व्यक्तित्व का सरमाया॥
न मिटे तव योग की जाननेवाली मेरी इस तुच्छ ममत्व की माया।
शुचि मुक्ति में छाया तुम्हारी विशेष हो, हो पर किञ्चित् मेरी भी छाया॥❀

§स्वविकास.........बनाया—वृक्ष के नीचे जालीदार छाया। यद्यपि वृक्ष के मुक्ति-प्रकाश प्राप्ति-के राह में एक जाल है परन्तु प्रकाश इस जाली से मनोरम बनता है और इस छाया से मुक्ति न मिले वरन् इस छाया में प्रकाश से सहमी हुई मानव-दुर्बलता को आश्रय मिलता है।

❀भक्त ब्रह्म में लीन होना अथवा निर्वाण-परिप्राप्ति नहीं चाहता है, किन्तु ब्रह्म में अवस्थित होते हुये भी अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखना चाहता है।

साध्यभक्ति पञ्चम पुरुषार्थ है

(ले०—श्री० नारायण शास्त्री जी खिस्ते ।)

"पुरुषार्थ" के प्रथम अंक में "पुरुषार्थ" विषय पर लिखते हुये साध्यभक्ति को भी पुरुषार्थ मान कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्तिरूप पाँच पुरुषार्थों का मैंने निरूपण किया था। मेरे उस लेख को पढ़ कर 'बालोतरा' (मारवाड़) निवासी श्रीयुत् रामयश गुप्त जी महाशय ने मेरे पास एक पत्र लिखकर भक्ति की पञ्चम पुरुषार्थता में प्रमाण, तथा मुक्ति के बाद भक्ति मानने से शङ्करमतानुसार अद्वैतसिद्धांत की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस विषय में जिज्ञासा प्रकट की है। साधारणतः ४ पुरुषार्थ ही प्रसिद्ध हैं अतः संभव है कि और अनेक जिज्ञासुओं को भी इस विषय में जिज्ञासा हो, इस लिये साध्यभक्ति की पञ्चम पुरुषार्थता और मुक्ति के बाद भी भक्ति मानने से शङ्कराद्वैतसिद्धान्त का सामञ्जस्य इसी विषय पर यथामति शास्त्रीय प्रमाण सहित अपने विचार प्रकट करता हूँ।

श्रीमद्भागवत् के दशमस्कंध उत्तरार्द्ध ८७ अध्याय में श्लो० २१ वेदस्तुति श्लो० ८

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमायतवात्ततनो—
चरित महामृताब्धि परिवर्त परिश्रमणाः।
नपरिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुये महान् भक्त कट्टर अद्वैती श्रीधर स्वामी जी अवतरणिका में कहते हैं—'भक्तिरल्पसाधन' मिति वचन मनुचितमिव मत्वा नो भक्तिं गुरुकरोति—दुरवगमेति। इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—"हे भगवन्! अत्यन्त दुर्बोध आत्मतत्त्व को प्रगट करने के लिये रूप धारण करनेवाले आप के चरित्ररूपी अमृत समुद्र में अवगाहन करने से गतश्रम कतिपय भक्तिरसिक महात्मा मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करते इन्द्रपदादि की कथा ही क्या? इतना ही नहीं किन्तु भक्त्यानन्द मग्न होकर के गृह—दारादि सुख की भी उपेक्षा करते हैं।" श्रीधर स्वामी की टीका पर व्याख्या करते हुए श्रीकाशीनाथोपाध्याय लिखते हैं—……अतिगरीभक्तिं गुरुकरोति= मोक्षोपरिविराजमानपञ्चम पुरुषार्थत्वं स्थापयतीत्यर्थः अनेन भक्तेः पुरुषार्थ चतुष्टयसाधनत्वं स्वतः परम फलरूपत्वं च व्यञ्जितम्। शाण्डिल्य—भक्तिसूत्र, नारदभक्तिसूत्र, पाञ्चरात्र आदि ग्रंथों में साध्यभक्ति को पञ्चम पुरुषार्थ माना गया है। श्री शङ्कराचार्य जी ने भी नृसिंहतापनीयोपनिषद्भाष्य में 'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' इस अंश की व्याख्या करते हुये कहा है—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते' इति। 'मुक्त पुरुष भी लीला से शरीर धारण कर भक्ति करते हैं' शंकर भगवान् की इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि मुक्ति के बाद पंचम पुरुषार्थ रूप भक्ति उन को मान्य है।

इस विषय में 'भक्तिनिर्णय' ग्रंथ में श्रीअनन्तदेव जी ने बहुत विशद निरूपण किया है। उस का सारांश इस प्रकार है—'मुक्ता भजन्ते' इस श्रुतिवाक्य में मुक्तपद से ज्ञानियों को ही लेना चाहिये, अन्यथा विदेह कैवल्य में कीर्तन असम्भव है। "नैवतस्यकृतेनार्थः" इत्यादि वचनानुसार उनको किसी भी कर्म से यद्यपि कुछभी फलनिष्पत्ति नहीं है तथाऽपि 'नैव तस्य कृतेनार्थः,' इस वाक्य को अदृष्टार्थ कर्मविषयक ही मानना चाहिये क्योंकि दृष्टार्थ भोजनादि कर्मों में ज्ञानी भी प्रवृत होते ही हैं। कीर्तनादि कर्म दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भी हैं। कीर्तनादि करनेवाले भक्तों में रोमांच आदि बाह्य चिन्हों से उन को निरतिशय सुख होना अनुमानतः निश्चित है, एवं "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति मित्यंभूत गुणो हरिः" इत्यादि भागवतीय शब्द प्रमाण से भी भक्ति में ब्रह्मानन्ददायिक सुख होना निश्चित है। ज्ञानियों को कीर्तनजन्य पुण्यफल की अपेक्षा न होने पर भी

कीर्त्तन से होनेवाले ब्रह्मानन्दाधिक आनन्द के लिये उनकी उसमें प्रवृत्ति होती है। अतएव मुक्तमंडली में मूर्धाभिषक्त श्री शुक महायोगीन्द्र का भागवत संकीर्त्तन के लिये परीक्षित राजा के पास जाना भी सुसंगत मालूम पड़ता है। भगवद्गीता में "चतुर्विधाभजन्ते मां"—इस श्लोक में भगवान् ने अपने ४ प्रकार के भक्तों में मुख्य भक्तज्ञानी ही कहा है। [एतावता भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ है और ज्ञानके अनन्तर मुक्ति प्राप्त होनेपर ही वह साध्य रूपा प्राप्त होती है यह बात शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध हुई। इससे अधिक भी इसके लिये अनेक शास्त्रीय प्रमाण हैं। लेख बहुत बढ़ जाने के भय से दिग्दर्शन मात्र किया है।

मुक्ति के अनन्तर की जाने वाली भक्ति वस्तुतः आत्मोपासना ही है, अपने से द्वितीय की सत्ता का वहां अनुभव नहीं होता अतः अद्वैत सिद्धान्त की भी कुछ हानि नहीं है आशा है कि इतने स्पष्टीकरण से जिज्ञासुओं का समाधान हो जायगा, यदि न हुआ तो फिर भी यथामति स्पष्टीकरण का प्रयत्न करूंगा।

———
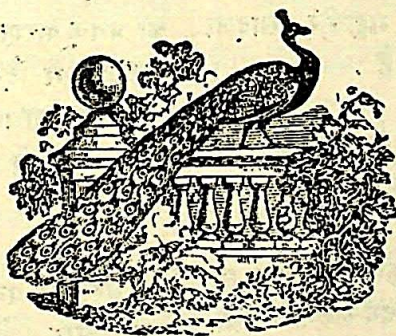
जगद्धर भट्ट की स्तुति-कुसुमाञ्जलि

(ले०—श्री पं० द्वारकाप्रसाद शुक्ल 'शंकर')

यह अद्वितीय और अमूल्य ग्रन्थ-रत्न काश्मीर देश-वासी स्वनामधन्य परम माहेश्वर श्री जगद्धर भट्ट की अति सुन्दर, हृदय-ग्राही रचना है। अनन्य शिव-भक्त, प्रकांड विद्वान और महाकवि के भक्ति-रस से छलकते हुये कोमल और सरस हृदय के ये उद्गार संस्कृत भाषा में पद्य के रूप में आज से लगभग छः सौ वर्ष हुये, संसार के परम हित के लिये प्रवाहित हुये थे, और ढाई सौ वर्ष हुये जब कि इन पर ग्रन्थकार के नाती की लड़की की लड़की के लड़के राजा शितकंठ ने बड़ी विषद और मर्म स्पर्शी लघु-पंचिका नाम्नी टीका किया।

इस स्तुति-ग्रंथ में क्या है, इसका महत्त्व और प्रभाव कितना है और साहित्य में इसका क्या स्थान है, इन सबको पूज्य आचार्य महावीर प्रसादजी द्विवेदी ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

"कुछ विद्वानों का विचार है कि महिम्न-स्तोत्र से बढ़कर स्तोत्र नहीं है। 'स्तोत्र-रत्नाकर' आदि में प्रकाशित अन्य भी कितने ही स्तोत्रों के सुंदर भावों और सरस उक्तियों पर कुछ लोग मुग्ध हो जाते हैं। शंकराचार्य की 'सौंदर्य-लहरी' तथा जगन्नाथराय की 'गंगा-लहरी की भी प्रशंसा अनेक रसिकों के मुख से सुनी जाती है। परंतु हमारी सम्मति तो यह है कि स्तुति-साहित्य में इस 'कुसुमाञ्जलि' से बढ़कर कोई ग्रंथ नहीं।

इसमें जगद्धर ने अपने कवित्व-शक्ति की पराकाष्ठा दिखा दी है, उसकी कविता इतनी सरस है, उसके स्तवनों के अधिकांश भाव इतने गम्भीर हैं, और उसने अपने आत्मनिवेदन को ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय-द्रावक ढंग से किया है कि पढ़ते पढ़ते हृदय पसीज जाता है, आँखों से अश्रु-धारा बह निकलती है और मन बेतरह विकल हो जाता है। उसकी नई नई उक्तियाँ उसके विचित्र-विचित्र उपालम्भ, उसके करुण-क्रंदन के अनूठे अनूठे ढंग पढ़नेवाले के हृदय पर बहुत ही आश्चर्य-जनक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। उसकी कविता रसवती होकर भी प्रासादिक है। अपनी कवित्व-शक्ति की सामर्थ्य दिखाने—अपनी प्रबल प्रतिभा के उद्यान के दर्शन कराने के लिये उसने 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' के ३८ स्तोत्रों में से ६ स्तोत्रों की रचना में चित्र काव्य का आश्रय लिया है। उसने किसी में 'शृंखला-बद्ध' किसी में 'द्विपाद यमक' किसी में 'पाद्यन्त यमक,' और किसी में 'महायमक' तक का गुम्फन किया है। पर प्रायः सब कहीं उसकी इस तरह की रचना में, यह खूबी है कि यह विशेष क्लिष्ट नहीं होने पाई। श्लोक को तनिक ध्यान से देखने से और उसका पदच्छेद करने से सब पदों का प्रथक्करण हो जाता है और कवि का भाव समझने में देर नहीं लगती। अक्षर, मैत्री, और अनुप्रास साधन में तो जगद्धर से शायद ही और कोई संस्कृत में बढ़ गया हो।"

(साहित्य संदर्भ से)

मेरी यह प्रबल इच्छा है कि ऐसे प्रकांड साहित्य रत्न और ऐसे शिवपरक आनंद-सुधा-वर्षिणी स्तुतियों के भाव को मूल श्लोक सहित हिंदी भाषा में क्रमशः 'पुरुषार्थ' के पाठकों के समक्ष उपस्थित करूँ जिससे मेरे और उनके मनोरंजन के साथ साथ परम कल्याण हो।

यह मैं भली भाँत जानता हूँ कि श्री जगद्धर ऐसे महाकवियों की उक्तियों का भाषान्तर करना या उनके भावों को किसी दूसरी भाषा में सफलता से पूर्णतया प्रकट करना बड़ा कठिन है। एक कुशल कवि जिस शब्द को जिस रूप में तथा जिस स्थान में अपने श्लोक में प्रयोग करता है, उससे जो भाव व्यंजित और ध्वनित होता है, वह किसी दूसरी भाषा के उसके पर्याय वाची अच्छे से भी अच्छे शब्द

या वाक्य से उसी प्रकार पूर्ण रूप से नहीं व्यक्त हो सक्ता जैसे एक चतुर शिल्पी की बनाई हुई किसी इमारत के किसी स्थान के एक सुव्यवस्थित साधारण पत्थर को निकाल कर बहुमूल्य और मनोहर रत्न के भी लगा देने से वह सौंदर्य नहीं दीखता। परंतु मेरा यह उद्योग इस दृष्टिकोण से क्षम्य होगा कि 'पुरुषार्थ' के पाठकों को इससे श्री जगद्धरजी के पवित्र और मार्मिक भावों का कम से कम आभास मात्र तो अवश्य ही हो जावेगा, जो इतनी उच्च-साहित्यिक भाषा और काव्यशैली में ग्रथित होने से एवं संस्कृत भाषा के आवरण में दिये होने के कारण केवल हिन्दी जानने वालों को सुलभ नहीं है। इस भावानुवाद के परिशीलन और मनन से केवल उन को कवि के नये, अनूठे और हृदय-स्पर्शी भावों से परिचय ही न होगा किन्तु उन को संस्कृत भाषा से भी परिचय और प्रेम अवश्य हो जायगा, क्योंकि श्री जगद्धर जी के ये श्लोक कुछ ऐसे आकर्षक प्रभाव के हैं कि किंचिन्मात्र भी परिचय और संसर्ग होने से, वे हठात् सहृदयों और भक्तो के हृदयों में अपनी छाप लगाये विना नहीं रह सकने। जिस का परिणाम यह होगा कि कितने ही पाठक इन श्लोकोंमें से अपनी रुचि के अनुसार बहुत से श्लोकों को बिना प्रयास ही कंठस्थ कर लेंगे और उन को अपने उमङ्ग के समय में पाठ कर के शंकर-गुन-गान से अपनी आत्मा को शांति और परमानन्द दे सकेंगे। यदि एक भी हृदय को यह परम लाभ प्राप्त हुआ तो मैं अपने को बड़भागी समझूँगा।

इस स्तुति कुसुमाञ्जलि में ३८ स्तुति पुष्प हैं और इन में कुल मिलकर १३९३ श्लोक हैं। प्रथम स्तोत्र का नाम है, स्तुति प्रस्तावना स्तोत्रम्। शिव--भक्ति में शरशार श्री जगद्धर भट्ट ने इस कुसुमाञ्जलि के प्रारम्भ करने के विचार से भगवान् शंकर को प्रसन्न जान कर अपनी भक्ति के सफल होने से कृतकृत्यता के आवेश में कैसे उद्धत हो गये थे, यह उन के ग्रंथारम्भ के प्रथम पाँच श्लोकों से, जिन को उन्होंने अपनी सरस्वती को संबोधित कर के या यों कहिये कि सरस्वती के स्मरण रूप में कहा है, प्रकट होता है।

अपने प्रभु की पूर्ण कृपा में अटल दृढ़विश्वास की सूचक इन उक्तियों में कैसा अनूठापन और कैसे मर्मस्पर्शी भाव भरे हैं। देखिये! ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलैर्जीवनैरघहरैर्नवैरियम्।

स्वामिनः क्लमशमक्षमैः क्षणरोद्धुमहति मनः सरस्वती ॥ १ ॥

कवि के हृदय में जो ह्लाद, प्रसन्नता और तत्त्व-ज्ञान का परमानन्द लहरें मार रहा था वह 'ह्लाद' बेतरह, आप ही आप उबल पड़ा। उस को ग्रंथारम्भ में मंगलाचरण की परिपाटी के पालन करने का अवकाश या होश ही नहीं था—क्योंकि वह तो परमानन्द रस छके हुये व्यावहारिक शिष्टाचारों के पाशों से पाश-मोचक शिव की कृपा कटाक्ष से मुक्त हो चुका था।

कवि कहता है "ऐ! मेरी सरस्वती, तुझ को (ह्लादवद्भिः) मेरे तथा सहृदयों के हृदय में तत्त्व-ज्ञानानन्द और सुख उत्पन्न करनेवाली (क्लमशमक्षमैः) पंच अविद्या जनित क्लेश तथा खेद के शांति करने में समर्थ, (जीवनैः) संसार-यात्रा करने से ओष्ठ-गत प्राण तृषितों को जिलानेवाली, (अघहरैः) पापों, अमंगलों और भवरोगों को हरनेवाली, (अमलैः) पद दोष और अर्थ दोषों से रहित, (अनर्गलैः) धारावाही, (नवैः—णु स्तुतौ धातुः) स्तुतियाँ कर के, (स्वामिनः मनः) मेरे स्वामी भग-

वान शंकर के मन को, (क्षण) क्षणमात्र ही के लिये क्यों न हो, उसी प्रकार (रोद्धुमर्हति) रोकना चाहिये, जैसी सरस्वती नदी रूप से तू, परमानन्द देनेवाले, कायिक, वाचिक तथा मानसिक, त्रिविध पापों को नाश करनेवाले, निर्मल, स्वच्छ तथा मरुभूमि में यात्रा करनेवाले की थकावट और खेद को हटा देने की शक्ति रखनेवाले और नित नये जलप्रवाह की मन-मोहकता और आकर्षण से मरुभूमि के पथिकों को हठात् ठहरा लेती हैं।

दूसरे श्लोक में कवि अपनी सरस्वती के और खिंचे हुये मन की इच्छा स्वातंत्र्य से उत्पन्न तरलता को मुहूर्त्तमात्र के लिये दूर कराने का कार्य भगवान् शंकर को सौंपता है, जिस से वे उस के निवेदन को मन लगा कर सुन लेवें—

स्वामिनः स्थिरगुणा सवक्रिमा
कर्णयोरमृतवर्षिणी मनः
कर्त्तुमर्हति मुहूर्तमुज्झितस्वै-
स्यापलमियं सरस्वती ॥ २ ॥

(स्थिरगुणा) ओज, प्रसाद और माधुर्य ये तीनों गुण तथा अर्थगुण स्थाईरूप से जिस में है, (सवक्रिमा) श्लेष से चमत्कृत अर्थों को प्रकट करने से उत्पन्न विचित्रता औक्कोक्त संयुक्त और (कर्णयोरमृत वर्षिणी) मेरे तथा सहृदयों के कानों में अमृत की वर्षा करनेवाली, मेरी (सरस्वती) वाणी तुझे मेरे (स्वामिनः) स्वामी महादेव के मन से (मुहूर्त्तम्) दो घड़ी के लिये (उज्झित स्वैरचापलम्) उन की अबंधा इच्छाजनित जो अस्थिरता, तरलता का त्याग उसी प्रकार (कर्त्तुमर्हति) करना चाहिये जैसे गुणों—सीधे तारों वाली, बनवट में टदी कानों में अमृत बरसाने वाली तेरी वीणा उन के मन से उस तरलता को दूर करा देती है।

स्वामी का चित्त एकाग्र कर पाने के बाद अब उस के लुभाने के उद्देश्य से कवि उस को प्रणय द्वारा शंकरमनोरंजिनी बनाने का उद्योग इस प्रकार करता है:—

रम्यरीतिरनघा गुणोज्वला
चारुवृत्तिरुचिरा रसान्वित।
रञ्जयत्वियमलंकृता मनः
स्वामिनः प्रणयिनी सरस्वती ॥३॥

(रमरीतिः) काव्य की रीतियों में वैदर्भी की प्रधानता इन स्तोत्रों में होने से रमणीय, (अनघा) पापों, अमंगलों और सांसारिक भीतियों से मुक्त (गुणोज्वला) काव्य के समस्त गुणों से सुशोभित, (चारुवृत्तरुचिरा) वसंततिलका, शार्दूल विक्रीड़ित आदि सुन्दर वृत्तों, छन्दों में कहे जाने से रोचक, (रसन्विता) रसों से विशेषकर शांतरस युक्त रसीली, (अलंकृता) वक्रोक्ति आदि शब्दालंकारों उपमा आदिक अर्थालंकारों से भूषित और (प्रणयिनी) अपने मनोरथ सिद्धि के लिये विनय करनेवाली मेरी (सरस्वती) वाणी (स्वामिनः मनः) परमेश्वर के मन को वैसे ही (रञ्जयतु) प्रसन्न करने वाली और प्रिय हो जैसे शील, कुलमर्यादा तथा कुलस्त्रियों के स्वाभाविक सद्व्यवहार से संयुक्त, निर्दोष और निष्पाप, लावण्य, दया दाक्षिण्य आदि गुणों से उज्वल, सुन्दर चरित होने से प्रिय स्थिर पति-प्रेम से परिपूर्ण तथा हारादि आभूषणों से सुसज्जित कामिनी अपने पति के मन को अपने प्रणय और प्रेम में सदा रँगे रहती है।

ऊपर के तीन श्लोकों में वर्णन किये गये सब स्पृहणीय गुणों और योग्यताओं से सांगोपांग परिपूर्ण होते हुये भी श्री जगद्धर जी की स्त्री जाति

सहज-भीरुता युक्त होने के साथ साथ यम-यातना से परमाशंकित और उद्विग्न, उस से बचने के लिये संरक्षित अकुतोभय स्थान अवश्य चाहेगी। अतएव उसके छिपने के स्थान को कवि इस प्रकार बतलाता है:—

सत्त्वधाम वरलाभयाचितश्लाघ्य
वर्णविषदा विशत्वियम्
निर्मलं सघन काल विह्वला
मानसं स्मरजित: सरस्वती ॥४॥

(सघनकाल विह्वला) काल अर्थात् यम अथवा वर्तमान समय, कलिकाल को घने उपद्रवों और मरण-त्रास के ग़दर से डरी हुई, और (वरलाभया-चितश्लाघ्यवर्ण विशदा) वरलाभ—अर्थात् अपनी रक्षा के वरदान-प्राप्ति की याचना करने से प्रशंस-नीय वर्णों अर्थात् अक्षरों में कही जाने से निर्मल (सरस्वती) ब्रह्मलोक में ब्रह्मसर आश्रय अर्थात् स्थान होनेसे सरस्वती नाम्नी, मेरी वाणी(स्मरजित:) कामारि शम्भु के (सत्त्वधाम) सत्व गुण और धैर्य के निवास-स्थान, (मन:) मन में अपने त्राण के लिये वैसे ही प्रवेश करे जैसे, घने मेघों वाले वर्षा-काल से पीड़िता अपने श्वेत रंग की प्रभा से पूर्ण होने के कारण प्रशंसनीय वर्ण वाली वरला, हंसी (ब्रियते हंसैर्वरला) सत्वधाम, मकरादि जीवों का निवासस्थान मानसर में वर्षा के भय से रक्षा के लिये प्रवेश करती है।

भक्तित: सपदि सर्वमङ्गला बोधिता
निजधियैव मेनया।
आरिराधयिषतीश्वरं वरं
लब्धुमीप्सितमियं सरस्वती ॥५॥

(सर्वमङ्गला) मनसा, वाचा, कर्मणा शिव से एकता के ध्यान में तन्मय होने के कारण सभी मंगलों की प्राप्ति करने वाली, और [मे अनया (मेऽन्या) निजधियैव बोधिता] मेरी इस बुद्धिद्वारा उद्बुद्ध की गई यह मेरी (सरस्वती) वाणी (ईप्सितं वरं लब्धुम) अभीष्ट वरदान-प्राप्ति के निमित्त (ईश्वरं आरिराधयिष्यति) सर्वेश्वर शङ्कर की आराधना करने की उसी प्रकार इच्छा रखती है जैसे पार्वती ने निज माता मेना द्वारा बोधित सर्वमंगला भगवान शिव को भर्ता (वर) पाने के लिये उन की आराधना किया था।

इस सब से यही आशय व्यञ्जित होता है कि जैसे श्री पार्वती जी ने शिवाराधन से फल-स्वरूप शिव को पति पाया वैसी ही श्री जगद्धर जी को भी इन स्तुति-कुसुमों से अर्चना करने से अपने इष्ट-देव शङ्कर का साक्षाद्रूप से दर्शन अवश्य ही होगा।

इन प्रारम्भिक श्लोक पंचकों से श्री जगद्धर भट्ट और श्री पुष्पदन्ता गंधर्वराज की मानसिक स्थिति का पता चलता है। एक अपने स्वामी के रोष से सन्तप्त है और उस ताप के निवारणार्थ वह 'मत्त्वेतां वाणी गुण कथन पुण्येन भवता पुनामि' के आशय से यह जानते और मानते हुये कहता है 'मधुस्फीता वाचा परमममलं निर्मित वत: स्तुव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरो विस्मित पद में और दूसरा अपनी अनन्य भक्ति के उद्रेक और औद्धत्य से ऐसा दृढ़ और अटल विश्वास पूर्ण है कि श्री शंकर भगवान को उस को साक्षात् दर्शन देने में वैसा ही विवश होना पड़ेगा जैसे उन को श्रीपार्वती जी को अर्द्धांगिनी बनाने में होना पड़ा।

इन पाँच श्लोकोंके बाद इस स्तुति कुसुमांजलि का 'स्तुति प्रस्तावना नामक' प्रथम स्तोत्र-कुसुम प्रारम्भ होता है, जिस की भाषा, भाव-गम्भीर्य और मनोहरता वर्णनातीत है।

[क्रमश:]

धर्म वृक्ष

ले०—श्री डा० ए० वेंकट सुब्बिय्य, एम० ए०, पी० एच० डी०, मैसूर।

णाद मुनि ने अपनी वैशेषिक सूत्रों के आदि में 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इति धर्म का लक्षण कहा है। 'अभ्युदय' से जानना है इह लोक में उत्तम स्थिति; और 'निश्रेयस' से जानना है परलोक में उत्तम स्थिति। 'उत्तमस्थिति' माने तो दुःख के बिना सुख से रहना। एवं उपर्युक्त सूत्र का यह अर्थ सिद्ध होता है कि इह लोक और परलोक दोनों में दुःख के स्पृक् के भी बिना सुख स्थिति जिस से मिलता है वह ही धर्म है।

इह लोक में रहने से भी अति दीर्घकाल दुःखमय या सुखमय परलोक में रहना जीवों को स्वभावसिद्ध है। और हम को कहना चाहिये कि दुःख के स्पृक के भी बिना सुखस्थिति इह लोक में कभी नहीं मिलती। क्योंकि अत्यन्त सुकृतशाली को भी मातृ-पितृ-वियोगादि दुःख इस लोक में अवश्य होते हैं। तस्मात् उक्त वैदिकधर्मों में वह धर्म उत्तम कहा जाता है जिस के अनुशीलन से जीवों को इह लोक के जन्म-निवृत होने पर परलोक में शाश्वत सुख मिलता है।

इस तरह के शाश्वत सुख से ब्रह्मलोक के शाश्वतवास को जानना चाहिये। क्योंकि छांदोग्योपनिषत् के (अध्याय ५ खंड १०) वाक्य के अनुसार जो जीव देवयान-मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे सब इस लोक में पुनः पुनः जन्म लेकर बीच बीच में सुख दुःख या दोनों को परलोक में पाते हैं। और इसी उपनिषत्खंड में कहा गया है कि देवयान मार्ग का अनुसरण करनेवाले तो बिना पुनरावृत्ति के ब्रह्मलोक में शाश्वत सुख पाते हैं।

देवयान मार्ग का अनुसरण से जानना है ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति, अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार। एवं पुनरावृत्तिरहित शाश्वत ब्रह्मलोकवास करने से यही ब्रह्मसाक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार परम धर्म माना जाता है। इस विषय का याज्ञवल्क्य महर्षि ने अपनी स्मृति (१ ८) में यों स्पष्टरीति से निरूपण किया है:—

> इज्याचारदमाहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
> अयं तु परमोधर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम्॥

"यजन, ध्यान, अध्ययन, आचार, दम (इन्द्रियनिग्रह) अहिंसा आदि सब धर्मों से भी योग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना ही उत्तम धर्म है।

"त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मनाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थाऽमृतत्वमेति।"

यह छांदोग्यश्रुति वाक्य भी (२--२३) इसी विषय का प्रतिपादक है। इस वाक्य में एक वृक्ष के साथ धर्म की तुलना की गई है; और यह भी कहा गया है कि इस वृक्ष की तीन डालियाँ हैं; उन में यजन, अध्ययन, दान, यह ही पहली डाली हैं; तप ही दूसरी है; आचार्य के पास मरण पर्यन्त रह कर उस की शुश्रूषा करनेवाला ब्रह्मचारी (अर्थात् नैष्टिक ब्रह्मचारी) का धर्म ही तीसरी है, और इन धर्मों के अनुशीलन करनेवाले सबों को परलोक में सद्गति मिलती है। ब्रह्मानुसंधान

संगम-चौकी

(कालिदास)

[लेखक—श्री मांगीलाल शर्मा, जयपुर]

१—कहीं प्रभालेपक नीलमों से जड़ी हुई ज्यों लड़ मोतियों की।
अन्यत्र माला सित पङ्कजों की इन्दीवरों से खचितान्तरा ज्यों॥

× × ×

२—कहीं सगे मानस के खगों की कादम्ब संसर्गवती जमा ज्यों।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा ज्यों कल्पिता चन्दनभक्ति भूकी॥

× × ×

३—कहीं प्रभा चान्द्रमसी तमों से छाया लुके श्यामनिभाकरी ज्यों।
अन्यत्र ज्यों शारद अभ्रलेखा सभोर आलक्ष्य नभोन्तरों में॥

× × ×

४—कहीं पुनः कृष्णभुजङ्गभूषा खमीर खाकी तनु ईश की ज्यों।
है भा रही सुन्दरि पेश गङ्गा प्रवाहभिन्ना यमुनामजों से॥

× × ×

भक्त मन-भ्रमर

(लेखक—श्री द्वारकाप्रसाद शुक्ल जी "शंकर")

जान्यो नहीं कबौं तव प्राप्ति परिपंथी बनि,
बिघ्न अरु आलस अनी को साज जूटैगो।
बापुरे ये कौन चहै पावैं रुख आपको भी ;
मकरंद आनन्द ज्यों घूँट्यो सदा घूँटैगो॥
"शंकर" सुजान प्रभु सावधान सावधान,
नतु पाश-पोचक विरुद या में टूटैगो।
तव पदपद्मपींजरा में गिरिजा को पल्यो ;
मानस मिलिन्द ये छुड़ाये नहीं छूटैगो॥

अविवेकियों की गति

(लेखक—श्री प्यारेलाल जी, "प्यारे," रीडर मुंसफ़ी गोंडा।

शंकर राम के रंग रँगे न डोलाये समाधि से डोलते हैं।
लागत ही उर वान अनंग के तीसरे नैन को खोलत हैं॥
जारि के मार को छार कियो रति को बर दै यह बोलते हैं।
"प्यारे" यही है सज़ा उनकी जो भले रस में विष घोलते हैं॥

शिव की व्यापकता

[ले० श्री बाबू गौरीशंकर गनेड़ीवाला]

यह सब जगत् शिवमय है। सबका उपकार करने से शिव सन्तुष्ट होते हैं ❀।

जिस प्रकार शिव, परमात्मा की मूर्ति से इस चराचर जगत् में व्याप्त है, वह अमित आत्मा शिव ही अपनी मूर्तियों से अधिष्ठित हो जो कुछ भी है, उसको जानता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेशान और सदाशिव, यह उसी की मूर्ति हैं, जिससे यह सारा जगत् विकार को प्राप्त हो रहा है। शिव की और भी पञ्च ब्रह्ममूर्ति हैं। उनसे भी सब जगत् व्याप्त है। ऐसा कुछ नहीं, जहाँ शिव न हो। ईशान, पुरुष, घोर, वामदेव, सद्योजात यह ईशान नाम की पाँच मूर्तियाँ हैं, उनमें भी शिव सब जगत् में विख्यात हैं।

(१) जो उनकी पहली ईशा नाम की श्रेष्ठ मूर्ति है, वह प्रकृति का भोक्ता होकर क्षेत्रयज्ञ में स्थित है।

(२) जो तत्पुरुष नामवाली मूर्ति है, वह गुणाश्रय होकर भोगती है और अव्यक्त में स्थित है।

(३) धर्मादि अष्टांग से युक्त शिवजी के बुद्धितत्त्व में स्थित अत्यन्त पूजित अघोर मूर्ति रहती है।

(४) जो विधाता वा महादेव नामक मूर्ति है, उसको शास्त्र के जाननेवाले अहंकार में रहनेवाली मूर्ति कहते हैं।

(५) जो सद्योजात नामक मूर्त्ति है, वह मनमें निवास करती है।

(१) श्रोत्र, वाणी, शब्द, विभु और आकाश की जो ईश्वरी मूर्त्ति हैं, उसको पंडितगण 'ईशा' कहते हैं।

(२) त्वचा, हाथ, स्पर्श तथा वायु की ईश्वरी जो ईश्वर की मूर्त्ति है, उसको शास्त्रज्ञ लोग 'तत्पुरुष' कहते हैं।

(३) चक्षु, चरण और अग्नि के रूप में शिव की 'अघोर' मूर्ति विद्यमान है।

(४) रसना, वायु, रस और जल की ईश्वरी 'वामदेव' नाम की मूर्त्ति है।

(५) घ्राण, उपस्थ, गन्ध, पृथ्वी की अधीश्वरी 'सद्योजात' नामवाली मूर्ति है।

मंगल की इच्छावालों को देवदेव की इन पाँच मूर्त्तियों के नाम का कीर्तन करना चाहिये। उस देवाधिदेव की अन्य अष्ट मूर्त्तियाँ हैं। जैसे—सूत्रों में मणि पोई हुई रहती है, इसी प्रकार उन (शिव) में यह विश्व ओत-प्रोत है:—

> तस्य देवाधिदेवस्य मूर्त्यष्टकमयं जगत्।
> तस्मिन्व्याप्य स्थितं विश्वं सूत्रे मणिगणा इव॥१७॥
>
> (वा० सं० अ० ३ उत्तर खं०)

शर्व १, भव २, रुद्र ३, उग्र ४, भीम ५, पशुपति ६, ईशान ७, महादेव ८, यह उन शिव की आठ मूर्तियाँ हैं।

भूमि १, जल २, अग्नि ३, वायु ४, आकाश ५ क्षेत्रज्ञ ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, यह महेश्वर की आठ कल्पित मूर्त्तियाँ हैं।

(१) यह पृथ्वी चराचरात्मक जगत् को धारण करती है, यह देवाधिदेव शिव की शिवात्मक मूर्ति है।

(२) जल से सारे जगत् का जीवन है। इसी कारण यह जलात्मक मूर्त्ति परमात्मा शिव की मूर्त्ति कहलाती है।

❀ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(३) अग्नि बाहर भीतर जगत् को व्याप्त करने से उन की तेजोमयी शुभमूर्त्ति है और घोर रूप उनकी रुद्र मूर्त्ति है।

(४) पवन सारे जगत् को स्पन्दन करता हुआ शरीर का भरण पोषण करता है अतएव वह मूर्त्ति उसकी उग्र मूर्त्ति कहलाती है।

(५) सब को अवकाश देनेवाली उन की आकाशात्मक मूर्त्ति है और सब प्राणियों को भय देने वाली भीम मूर्त्ति है।

(६) सब क्षेत्रनिवासियों के अन्तःकरण में वह सर्वात्मा रूप से स्थित है, अतः वह जीवों की पाश काटनेवाली शिव की पशुपति-मूर्त्ति है।

(७) सूर्यनाम से उनकी मूर्त्ति सारे जगत् को प्रकाशित करती है, इसी से वह 'ईशान' नाम वाली शिव की मूर्त्ति स्वर्ग में चलती है।

(८) जो चन्द्रमा की किरणों से जगत् को तृप्त करती है, वह चन्द्रमूर्त्ति है। वह महादेव की मूर्त्ति 'महादेव' नामक है। आठवीं शिव की व्यापक मूर्त्ति है और इतर (अन्य) मूर्त्तियों से भी व्यापक मूर्त्ति होने के कारण यह जगत् शिवात्मक है। जैसे वृक्ष की जड़ में सींचने से शाखा फूलती फलती है, इसी प्रकार देवदेव शिव की पूजा से इन का शरीररूपी जगत् पुष्ट होता है।

सब को अभय देना प्रधान काम है और सब अनुग्रहविधायक (विधानकर्ता अर्थात् रचनेवाला) और सब के उपकार का कारण शिव का आराधन कहा है। जिस प्रकार पुत्र और पौत्रादि की प्राप्ति से (प्रेम करने से) पिता प्रसन्न होता है, इसी प्रकार सब की प्रीति से अर्थात् सब प्राणीमात्र से प्रेम करने से शंकर प्रसन्न होते हैं (तथा सर्वस्य संप्रीत्या प्रीतो भवति शंकरः)॥ अष्ट मूर्ति रूप से सब जगत् को व्याप्त कर के स्थित हुये परम-कारण-रूप शिव जी का सर्वतोभाव से भजन करे अर्थात् कल्याण चाहने वाले लोग कल्याण रूप शिव का भजन करते हुये अभय ग्रहण करें।

अष्टमूर्त्यात्मना विश्वमधिष्ठाय स्थितं शिवम्।
भजस्व सर्वभावेन रुद्रं परम कारणम्॥३३॥

(वा० सं० अ० ३)

'प्रतीक्षा'

(लेखक—श्री बैजनाथ सिंह 'सारथी', राजसदन, धानेपुर, गोंडा)

कब लौं फिराइ कै न कलित कृपा की कोर,
ऐसोई भरम-भावना में भरमाइहौ?
कब लौं न नैकु नख-कोर की किरन दै कै,
'सारथी'—हृदय-अंधकार को नसाइहौ?
कब लौं न आइ कै, बुझाइ कै विरह-आगि,
मधुर वचन इन श्रौननि सुनाइहौ?
तरस रहे हैं दिन-रैन ये दुखित नैन,
कहो, कब लौं न इन्हैं दरस दिखाइहौ?

मन की मध्यमा भक्ति

[लेखक—श्री मांगीलाल शर्मा, जयपुर]

न की तीन भक्तियां हैं। उक्थ भक्ति, अर्कभक्ति और अशिति भक्ति। प्रथमा जो उक्थ भक्ति है, वह तो अपने आधार में गूढ़ रहती है। मनको इसीलिये शिव संकल्प में 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरम्' बतलाया है। मकान की नींव जैसे अदृष्ट रहती है, वृक्ष का बुध्न-मूल जैसे अदृष्ट रहता है, उसी तरह मनकी उक्थभक्ति-उक्थभाग अदृष्ट रहता है। उक्थ-भक्ति के अनन्तर मनकी मध्यमा भक्ति है, जिसे अर्क भक्ति कहते हैं। सूर्य जैसे पार्थिव रसों का रश्मियों से आदान करता है, उसी भाँति मन भी अपनी इस मध्यमा कहो या द्वितीया-भक्ति से अशिति को लाया करता है। इस व्यापार को पाना है उसे ही पुरुषार्थ कहा जाता है। यह दूसरी भक्ति मन का रथ है, जिसे भाषा में 'मनोरथ' बोलते हैं। मन अपने रथ पर अशिति (खुराक) को भर भर कर लाया करता है, और वह सब आनीत अशिति उक्थभक्ति में जमा होती रहती है, इस जमा का नाम भावना और वासना है। मन दो तत्त्वों से बना है, ज्ञान से और कर्म से। अतः उसकी भक्ति भी दो तरह की खुराक लाया करती है। यदि मनोभक्ति ज्ञान की अशिति लाती है तो वह 'वासना' बन जाती है। इस तरह भावना और वासना दोनों प्रकार के संस्कार उस मनकी प्रथम भक्ति से उत्थित होते रहते हैं और इस हेतु से उस भक्ति का 'उक्थ' नाम सार्थक होता है, उत्तिष्ठत्यस्मादित्युक्थम्। जिस अशिति का हृदय में उक्थ विद्यमान रहता है, मन में उसी अशिति को पाने का काम उत्पन्न होता है। इस लिये काम मनोज कहलाता है। इस अर्क का ही अपर नाम काम है। विषयों के आकार में, विषयों की शकल में अशिति संस्कार वासनाओं से मन का पोष होता है। मुर्गी बैठी हुई अण्डों का पोष करती है, पुश्ती मकान का पोष करती है, उसी तरह वासना मनका पोष करती है। वासनाओं की जितनी महत्ता होती है, उसी प्रमाण से पुरुष महान् आशय रखता हुआ 'महाशय' कहलाता है। मन में काम उत्पन्न होकर उस समय तक बराबर अशिति को लेताही रहेगा, जब तक यह आपको अपनी खोई हुई पूर्णता को न पा लेगा। यहाँ पर यह भी स्मरण रखियेगा कि यह कामात्मा मन अशितियों को चाहे जितना आहार करता रहे, यह अपने व्यापार से उपशान्त न हो सकेगा, बुभुक्षा मिटाने के लिये यह प्रतीकार परिणाम में निदान से समंजस नहीं उत्पन्न होता, ऐसा प्रत्यक्ष देखा भी जा रहा है।

अच्छा तो अब कामात्मा का प्रकृत ध्येय जो है, उसका विचार करना चाहिये। सबसे प्रथम निर्विशेष है, जो केवल रस स्वरूप है, बलका यहाँ सर्वथा तिरोधान है, इसलिये वह भूमा आनन्द स्वरूप है। उससे इधर परात्पर है, जो रसबल विशिष्ट है। इस परात्पर में रस में-असीम रस में बलका प्रादुर्भाव होता है। प्रादुर्भाव क्यों होता है, इस प्रश्न को यहाँ अवकाश न देकर 'होता है' इतना समझ लेने से ही वस्तुस्थिति का पर्याप्त ज्ञान हो सकेगा। उस परात्पर में जितने अवकाश में जितने रसदेश में बल प्रादुर्भूत होता है, वह बल उस रसको घेर लेता है, इस घेर का नाम माया है। "मिमीते अनयेति माया," माया को हिन्दी में सीमा या हद कहते हैं। ज्यामिति में इस हदबन्दी को परिधि बोलते हैं। इस माया के घेर में जितना रस आजाता है, वह मायी कहलाता है, वह बल चारों ओर से इकट्ठा होकर हृदय में यानी केन्द्र में जमा होता है। तब यह मायी अव्यय नाम पाता है। अव्यय जो है सो मनः स्वरूप है। असीम से ससीम होकर यह अव्यय आत्मा, पुरुष, मन पीछा अपनी पूर्व स्थिति की यानी असीमता को पाने के लिये जो बल लगाता है,

संगम-चौकी

(कालिदास)

[लेखक—श्री मांगीलाल शर्मा, जयपुर]

१—कहीं प्रभालेपक नीलमों से जड़ी हुई ज्यों लड़ मोतियों की।
अन्यत्र माला सित पङ्कजों की इन्दीवरों से खचितान्तरा ज्यों॥

× × ×

२—कहीं सगे मानस के खगों की कादम्ब संसर्गवती जमा ज्यों।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा ज्यों कल्पिता चन्दनभक्ति भूकी॥

× × ×

३—कहीं प्रभा चान्द्रमसी तमों से छाया लुके श्यामनिभाकरी ज्यों।
अन्यत्र ज्यों शारद अभ्रलेखा सभोर आलक्ष्य नभोन्तरों में॥

× × ×

४—कहीं पुनः कृष्णभुजङ्गभूषा खमीर खाकी तनु ईश की ज्यों।
है भा रही सुन्दरि पेश गङ्गा प्रवाहभिन्ना यमुनामजों से॥

× × ×

भक्त मन-भ्रमर

(लेखक—श्री द्वारकाप्रसाद शुक्ल जी "शंकर")

जान्यो नहीं कवौं तव प्राप्ति परिपंथी बनि,
विघ्न अरु आलस अनी को साज जूटैगो।
बापुरे ये कौन चहै पावैं रुख आपको भी;
मकरंद आनन्द ज्यों घूँट्यो सदा घूँटैगो॥
"शंकर" सुजान प्रभु सावधान सावधान,
नतु पाश-पोचक विरुद या में टूटैगो।
तव पदपद्मपींजरा में गिरिजा को पल्यो;
मानस मिलिन्द ये छुड़ाये नहीं छूटैगो॥

अविवेकियों की गति

(लेखक—श्री प्यारेलाल जी, "प्यारे," रीडर मुंसफी गोंडा।

शंकर राम के रंग रँगे न डोलाये समाधि से डोलते हैं।
लागत ही उर वान अनंग के तीसरे नैन को खोलत हैं॥
जारि के मार को छार कियो रति को बर दै यह बोलते हैं।
"प्यारे" यही है सजा उन की जो भरे रस में विष घोलते हैं॥

शिव की व्यापकता

[ले० श्री बाबू गौरीशंकर गनेड़ीवाला]

यह सब जगत् शिवमय है। सबका उपकार करने से शिव सन्तुष्ट होते हैं ❀।

जिस प्रकार शिव, परमात्मा की मूर्ति से इस चराचर जगत् में व्याप्त है, वह अमित आत्मा शिव ही अपनी मूर्तियों से अधिष्ठित हो जो कुछ भी है, उसको जानता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेशान और सदाशिव, यह उसी की मूर्तिं हैं, जिससे यह सारा जगत् विकार को प्राप्त हो रहा है। शिव की और भी पञ्च ब्रह्ममूर्ति हैं। उनसे भी सब जगत् व्याप्त है। ऐसा कुछ नहीं, जहाँ शिव न हो। ईशान, पुरुष, घोर, वामदेव, सद्योजात यह ईशान नाम की पाँच मूर्त्तियाँ हैं, उनमें भी शिव सब जगत् में विख्यात हैं।

(१) जो उनकी पहली ईशा नाम की श्रेष्ठ मूर्ति है, वह प्रकृति का भोक्ता होकर क्षेत्रयज्ञ में स्थित है।

(२) जो तत्पुरुष नामवाली मूर्ति है, वह गुणाश्रय होकर भोगती है और अव्यक्त में स्थित है।

(३) धर्मादि अष्टांग से युक्त शिवजी के बुद्धितत्त्व में स्थित अत्यन्त पूजित अघोर मूर्ति रहती है।

(४) जो विधाता वा महादेव नामक मूर्त्ति है, उसको शास्त्र के जाननेवाले अहंकार में रहनेवाली मूर्ति कहते हैं।

(५) जो सद्योजात नामक मूर्त्ति है, वह मनमें निवास करती है।

(१) श्रोत्र, वाणी, शब्द, विभु और आकाश की जो ईश्वरी मूर्त्ति हैं, उसको पंडितगण 'ईशा' कहते हैं।

(२) त्वचा, हाथ, स्पर्श तथा वायु की ईश्वरी जो ईश्वर की मूर्त्ति है, उसको शास्त्रज्ञ लोग 'तत्पुरुष' कहते हैं।

(३) चक्षु, चरण और अग्नि के रूप में शिव की 'अघोर' मूर्ति विद्यमान है।

(४) रसना, वायु, रस और जल की ईश्वरी 'वामदेव' नाम की मूर्त्ति है।

(५) प्राण, उपस्थ, गन्ध, पृथ्वी की अधीश्वरी 'सद्योजात' नामवाली मूर्ति है।

मंगल की इच्छावालों को देवदेव की इन पाँच मूर्त्तियों के नाम का कीर्तन करना चाहिये। उस देवाधिदेव की अन्य अष्ट मूर्त्तियाँ हैं। जैसे—सूत्रों में मणि पोई हुई रहती है, इसी प्रकार उन (शिव) में यह विश्व ओत-प्रोत है :—

तस्य देवाधिदेवस्य मूर्त्यष्टकमयं जगत्।
तस्मिन्व्याप्य स्थितं विश्वं सूत्रे मणिगणा इव॥१७॥

(वा० सं० अ० ३ उत्तर खं०)

शर्व १, भव २, रुद्र ३, उग्र ४, भीम ५, पशुपति ६, ईशान ७, महादेव ८, यह उन शिव की आठ मूर्तियाँ हैं।

भूमि १, जल २, अग्नि ३, वायु ४, आकाश ५ क्षेत्रज्ञ ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, यह महेश्वर की आठ कल्पित मूर्त्तियाँ हैं।

(१) यह पृथ्वी चराचरात्मक जगत् को धारण करती है, यह देवाधिदेव शिव की शिवात्मक मूर्ति है।

(२) जल से सारे जगत् का जीवन है। इसी कारण यह जलात्मक मूर्त्ति परमात्मा शिव की मूर्त्ति कहलाती है।

❀ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(३) अग्नि बाहर भीतर जगत् को व्याप्त करने से उन की तेजोमयी शुभमूर्ति है और घोर रूप उनकी रुद्र मूर्त्ति है।

(४) पवन सारे जगत् को स्पन्दन करता हुआ शरीर का भरण पोषण करता है अतएव वह मूर्त्ति उसकी उग्र मूर्त्ति कहलाती है।

(५) सब को अवकाश देनेवाली उन की आकाशात्मक मूर्त्ति है और सब प्राणियों को भय देने वाली भीम मूर्त्ति है।

(६) सब क्षेत्रनिवासियों के अन्तःकरण में वह सर्वात्मा रूप से स्थित है, अतः वह जीवों की पाश काटनेवाली शिव की पशुपति-मूर्त्ति है।

(७) सूर्यनाम से उनकी मूर्त्ति सारे जगत् को प्रकाशित करती है, इसी से वह 'ईशान' नाम वाली शिव की मूर्त्ति स्वर्ग में चलती है।

(८) जो चन्द्रमा की किरणों से जगत् को तृप्त करती है, वह चन्द्रमूर्त्ति है। वह महादेव की मूर्त्ति 'महादेव' नामक है। आठवीं शिव की व्यापक मूर्त्ति है और इतर (अन्य) मूर्त्तियों से भी व्यापक मूर्त्ति होने के कारण यह जगत् शिवात्मक है। जैसे वृक्ष की जड़ में सींचने से शाखा फूलती फलती है, इसी प्रकार देवदेव शिव की पूजा से इन का शरीररूपी जगत् पुष्ट होता है।

सब को अभय देना प्रधान काम है और सब अनुग्रहविधायक (विधानकर्ता अर्थात् रचनेवाला) और सब के उपकार का कारण शिव का आराधन कहा है। जिस प्रकार पुत्र और पौत्रादि की प्राप्ति से (प्रेम करने से) पिता प्रसन्न होता है, इसी प्रकार सब की प्रीति से अर्थात् सब प्राणीमात्र से प्रेम करने से शंकर प्रसन्न होते हैं (तथा सर्वस्य संप्रीत्या प्रीतो भवति शंकरः)॥ अष्ट मूर्ति रूप से सब जगत् को व्याप्त कर के स्थित हुये परम-कारण-रूप शिव जी का सर्वतोभाव से भजन करे अर्थात् कल्याण चाहने वाले लोग कल्याण रूप शिव का भजन करते हुये अभय ग्रहण करें।

अष्टमूर्त्यात्मना विश्वमधिष्ठाय स्थितं शिवम्।
भजस्व सर्वभावेन रुद्रं परम कारणम् ॥३३॥

(वा० सं० अ० ३)

'प्रतीक्षा'

(लेखक—श्री बैजनाथ सिंह 'सारथी', राजसदन, धानेपुर, गोंडा)

कब लौं फिराइ कै न कलित कृपा की कोर,
ऐसोई भरम-भावना में भरमाइहौ?

कब लौं न नैकु नख-कोर की किरन दै कै,
'सारथी'—हृदय-अंधकार को नसाइहौ?

कब लौं न आइ कै, बुझाइ कै विरह-आगि,
मधुर बचन इन श्रौननि सुनाइहौ?

तरस रहे हैं दिन-रैन ये दुखित नैन,
कहो, कब लौं न इन्हैं दरस दिखाइहौ?

मन की मध्यमा भक्ति

[लेखक—श्री मांगीलाल शर्मा, जयपुर]

मन की तीन भक्तियां हैं। उक्थ भक्ति, अर्कभक्ति और अशिति भक्ति। प्रथमा जो उक्थ भक्ति है, वह तो अपने आधार में गूढ़ रहती है। मनको इसीलिये शिव संकल्प में 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरम्' बतलाया है। मकान की नींव जैसे अदृष्ट रहती है, वृक्ष का बुध्न-मूल जैसे अदृष्ट रहता है, उसी तरह मनकी उक्थभक्ति-उक्थभाग अदृष्ट रहता है। उक्थ-भक्ति के अनन्तर मनकी मध्यमा भक्ति है, जिसे अर्क भक्ति कहते हैं। सूर्य जैसे पार्थिव रसों का रश्मियों से आदान करता है, उसी भाँति मन भी अपनी इस मध्यमा कहो या द्वितीया-भक्ति से अशिति को लाया करता है। इस व्यापार को पाना है उसे ही पुरुषार्थ कहा जाता है। यह दूसरी भक्ति मन का रथ है, जिसे भाषा में 'मनोरथ' बोलते हैं। मन अपने रथ पर अशिति (खुराक) को भर भर कर लाया करता है, और वह सब आनीत अशिति उक्थभक्ति में जमा होती रहती है, इस जमा का नाम भावना और वासना है। मन दो तत्त्वों से बना है, ज्ञान से और कर्म से। अतः उसकी भक्ति भी दो तरह की खुराक लाया करती है। यदि मनोभक्ति ज्ञान की अशिति लाती है तो वह 'वासना' बन जाती है। इस तरह भावना और वासना दोनों प्रकार के संस्कार उस मनकी प्रथम भक्ति से उत्थित होते रहते हैं और इस हेतु से उस भक्ति का 'उक्थ' नाम सार्थक होता है, उत्तिष्ठत्यस्मादित्युक्थम्। जिस अशिति का हृदय में उक्थ विद्यमान रहता है, मन में उसी अशिति को पाने का काम उत्पन्न होता है। इस लिये काम मनोज कहलाता है। इस अर्क का ही अपर नाम काम है। विषयों के आकार में, विषयों की शकल में अशिति संस्कार वासनाओं से मन का पोष होता है। मुर्गी बैठी हुई अण्डों का पोष करती है, पुश्ती मकान का पोष करती है, उसी तरह वासना मनका पोष करती है। वासनाओं की जितनी महत्ता होती है, उसी प्रमाण से पुरुष महान् आशय रखता हुआ 'महाशय' कहलाता है। मन में काम उत्पन्न होकर उस समय तक बराबर अशिति को लेताही रहेगा, जब तक यह आपको अपनी खोई हुई पूर्णता को न पा लेगा। यहाँ पर यह भी स्मरण रखियेगा कि यह कामात्मा मन अशितियों को चाहे जितना आहार करता रहे, यह अपने व्यापार से उपशान्त न हो सकेगा, बुभुक्षा मिटाने के लिये यह प्रतीकार परिणाम में निदान से समंजस नहीं उत्पन्न होता, ऐसा प्रत्यक्ष देखा भी जा रहा है।

अच्छा तो अब कामात्मा का प्रकृत ध्येय जो है, उसका विचार करना चाहिये। सबसे प्रथम निर्विशेष है, जो केवल रस स्वरूप है, बलका यहाँ सर्वथा तिरोधान है, इसलिये वह भूमा आनन्द स्वरूप है। उससे इधर परात्पर है, जो रसबल विशिष्ट है। इस परात्पर में रस में-असीम रस में बलका प्रादुर्भाव होता है। प्रादुर्भाव क्यों होता है, इस प्रश्न को यहाँ अवकाश न देकर 'होता है' इतना समझ लेने से ही वस्तुस्थिति का पर्याप्त ज्ञान हो सकेगा। उस परात्पर में जितने अवकाश में जितने रसदेश में बल प्रादुर्भूत होता है, वह बल उस रसको घेर लेता है, इस घेर का नाम माया है। "मिमीते अनयेति माया," माया को हिन्दी में सीमा या हद कहते हैं। ज्यामिति में इस हदबन्दी को परिधि बोलते हैं। इस माया के घेर में जितना रस आजाता है, वह मायी कहलाता है, वह बल चारों ओर से इकट्ठा होकर हृदय में यानी केन्द्र में जमा होता है। तब यह मायी अव्यय नाम पाता है। अव्यय जो है सो मनः स्वरूप है। असीम से ससीम होकर यह अव्यय आत्मा, पुरुष, मन पीछा अपनी पूर्व स्थिति की यानी असीमता को पाने के लिये जो बल लगाता है,

उस बल का नाम 'अशनाया' बल है। यानी यह मन चाहता है कि मैं यह अशन करूं, वह अशन करूं, ताकि मैं पीछा पूर्ण बन जाऊँ। इसी पूर्णता को पाना ही पुरुष का अभीष्ट पुरुषार्थ है, इसका विषयावच्छिन्न जितना व्यापार होता है, वह हदके भीतर ही तो रहता है, और बेहद तो तब हो, जबकि यह अविद्याजनित मायाबल को विद्या बल से अलग कर दे। परिधि हटने पर फिर असीमता ही तो है। अतः मन कामात्मा होकर भी उसी परात्पर में लीन होने को यह सारा व्यापार करता रहता है। इस संबन्ध का एक टेबल नीचे देते हैं।

निर्विशेष = रस स्वरूप।
परात्पर = रसबल स्वरूप।
अव्यय = मन = पुरुष = मायावच्छिन्न।
उक्थ भक्ति, काम भक्ति, अशिति भक्ति।

उक्थ भक्ति	काम भक्ति	अशिति भक्ति
मन, हृदय आत्मा पुरुष	काम, अन्नाद	वासना मनपोष, कामाङ्कुर

श्री पार्वती जी की चिंता

(लेखक—श्री मुरलीधर त्रिगुणायत, गोंडा)

लखि वेष कराल है बाल विहाल,
मचाते बवाल से डोलते हैं।
उत ग्राम-निवासी उदासी बता के!
पिता के सुचित्त को तोलते हैं।

अतएव समै अनुसार करैं वर-,
-वेष न क्यों यों मखोलते हैं।
कोऊ जाय कहै किन शंकर तैं,
यह क्यों रस में विष घोलते हैं।

काममार्ग का संवाद

[ले० श्री "सत्यान्वेषी"]
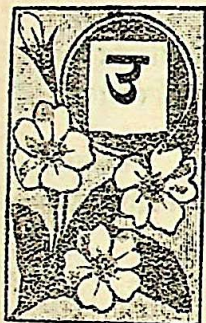
उस दिन स्वामीजी के पास से उठकर अष्टभुजा जी के, जाकर, दर्शन किये और पहाड़ से उतरकर विन्ध्याचल की राह ली। मार्ग में स्वामीजी की बातों पर विचार करता रहा। उनके विचार मुझे नवीन जान पड़े। उनका व्यक्तित्व भी मुझे प्रभाव-जनक प्रतीत हुआ।

अपने जीवन में मुझसे कई एक शाक्तों से भेंट हुई है, पर वे प्रायः सबके सब आडम्बर-प्रिय और अपनी हाँकनेवाले मिले। उनसे उनकी 'सिद्धई' की बातें आप चाहे जितनी सुन लीजिए, पर तान्त्रिक तत्त्ववाद की बात उठने पर वे चुप ही रह जायँगे। बहुत हुआ तो अपने को षट्कर्मी तान्त्रिक बताकर छुट्टी पा जायँगे। ऐसी दशा में स्वामीजी की बातचीत मुझे अधिक बोधप्रद जान पड़ी।

दूसरे दिन स्नान, दर्शन आदि से छुट्टी पाकर मैंने फिर अष्टभुजा की राह ली और कल के समय से कुछ पहलेही मैं स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हो गया। उस समय स्वामीजी के पास दो व्यक्ति बैठे हुए थे। कदाचित् वे स्वामीजी से कुछ पढ़ रहे थे क्योंकि उनके आगे एक एक पुस्तक खुली पड़ी थी और स्वामीजी भी अपने हाथ में एक पुस्तक लिये हुए थे। मुझे आता देखकर स्वामीजी ने अपनी पुस्तक समेटकर एक ओर रख दी। यह देखकर वे दोनों भी अपनी अपनी पुस्तकें बाँधने लगे।

श्रद्धा-पूर्वक अभिवादन कर मैंने कहा महाराज, जान पड़ता है, मैं आज कल से कुछ पहले आगया हूँ। मेरे आजाने से इन लोगों के पढ़ने में बाधा हुई है।

स्वामीजी ने कहा—नहीं, नहीं, आप तीर्थयात्री हैं। आप की सेवा हमें सबसे पहले करनी चाहिये। ये तो यहीं रहते हैं। रोज़ ही पढ़ते-लिखते रहते हैं।

"क्या मैं जान सकता हूँ कि आप इन्हें किस विषय की शिक्षा दे रहे थे।"

"मुझ में किसी विषय की शिक्षा देने की क्षमता नहीं है। फिर ये स्वयं संस्कृत के अच्छे विद्वान हैं। मेरी एक पुस्तक की इन्होंने नक़ल की है उसी का मिलान हो रहा था।

कौन ऐसी पुस्तक है? क्या वह छपी नहीं है?"

"नहीं, वह छपी नहीं है। वह हमारे इष्ट देवता की पद्धति है।"

"पद्धति क्या वस्तु होती है?"

"पद्धति में इष्ट देवता के साधना-क्रम की विधि लिखी रहती है। हम शाक्तों के लिए उनका रखना बहुत ज़रूरी है। उनके बिना शाक्त साधक अपने देवता का अर्चन नहीं कर सकता।"

"ऐसी आवश्यक पद्धतियाँ अभी तक छापी क्यों नहीं गईं?"

"इस का उत्तर मैं क्या दूँ? मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि कम से कम अपने इष्ट-देवता की 'पद्धति' तो ज़रूर साधकों के पास होनी चाहिये। परन्तु साधकों की उदासीनता के कारण इन का भी लोप होता जा रहा है।"

"क्या ये पद्धतियाँ सुलभ नहीं हैं?"

"सुलभ! मिलती ही नहीं हैं। श्री विद्या, काली, तारा जैसी कुछ महाविद्याओं की पद्धतियाँ सुलभ हैं, पर अधिकांश की पद्धतियाँ नाम-शेष हो गई ये दोनों युवक शास्त्री हैं। इन के पूर्वज इस क्षेत्र के प्रसिद्ध तांत्रिक थे। अब तक इन्हों ने अपने कुल-

धर्म की दीक्षा ली तब इन्हें 'पद्धति' की आवश्यकता पड़ी, और उसे ये अपने अपने घर के पुस्तक-भण्डार में न पा सके।"

"जब पद्धतियों का यह हाल है तब असली ग्रंथ चाहे ढूँढे से भी न मिलें।"

"आप का अनुमान ठीक है। तन्त्र-शास्त्र का बुरी तरह से लोप हो गया है। कुछ ही आगम-ग्रंथ प्राप्य हैं और सो भी पूर्ण नहीं हैं। कुछ उपयोगी संग्रह-ग्रंथ अवश्य सुलभ हैं। पर उन की प्रामाणिकता पर सन्देह होता है। उन में बौद्ध और जैन आगमों का भी प्रभाव पड़ा है। हमारी पद्धतियों पर भी उन का काफी प्रभाव है। इस का निर्णय करना कठिन है कि अमुक अमुक अंश बौद्धों आदि के प्रभाव का परिणाम है।"

"तब तो पूजा-पाठ में बड़ा गोलमाल होता होगा।"

"उतना नहीं। शाक्त साधकों का काम उन की पद्धतियों से भले प्रकार चल जाता है। परन्तु असली आगम ग्रन्थों के अभाव में उन में ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। जिन कुछ लोगों के पास वे ग्रन्थ हैं और जो उन का अध्ययन करते हैं वे अपने ज्ञान का साधारण साधकों में प्रचार नहीं करते। वे 'गोपनीय' के फेर में पड़ कर इस श्रेष्ठ धर्म के विनाश का कारण हो रहे हैं। इस से इस का परिणाम भयंकर हुआ है।"

"क्या भयंकर परिणाम हुआ है?"

"सद्‌गुरुओं और सद्‌ग्रन्थों के अभाव में शाक्त-साधना की परम्परा में बौद्ध आदि अन्य मत-मतान्तरों के विचारों का खुल्लमखुल्ला प्रवेश होता रहा। इस का परिणाम यह हुआ कि जो मार्ग किसी समय सद्‌गति का मुख्य द्वार था वही अब नरक का मुख्य द्वार हो गया है। इस से अधिक भयंकर और कौन बात हो सकती है?"

"परन्तु कल तो आप कुछ और कहते थे।"

"आज भी उसे दोहराने को तैयार हूँ। वाममार्ग एक सिद्ध मार्ग है और सत्साधक उस के द्वारा अब भी चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिये यत्नशील रहते हैं।"

"अभी तो आप इसे नरक का मुख्य द्वार कह रहे थे।"

"नरक का द्वार उसे अनधिकारी लोगों ने बना दिया है। वे शास्त्र का मर्म नहीं जानते और बौद्धादिकोंकी आकर्षक साधनाओंके फेरमें पड़ कर किसी ओर के नहीं रहते। उन्हीं की असफलता को देख कर इतर लोग वाममार्ग की खिल्ली उड़ाते हैं।"

"परन्तु इस में लोगों का क्या दोष है? जो देखते हैं, कहते हैं। आप ही बताइये, इस ज़माने में कौन 'पञ्चमकार' को धर्म का अंग मान सकता है? एक विद्वान ने प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि पञ्चमकार का प्रचलित अर्थ नहीं लेना चाहिये, किन्तु योग की भाषा में मद्य का अग्नि-तत्व, मांस का वायुतत्व, मत्स्य का जलतत्व, मुद्रा को पृथ्वीतत्व और मैथुन का आकाशतत्व जैसे सूक्ष्म अर्थ लेना चाहिये।"

"मैंने भी उस तरह का अर्थ सुना है। परंतु वह यथार्थ नहीं है। वामाचार में पञ्चमकार का सामान्य अर्थ ही किया जाता है और उन पाँचों पदार्थों का पूजा में समावेश होता है। जो लोग योग की भाषा में उन का भिन्न अर्थ करते हैं वे यह बात भूल जाते हैं कि उन की इस वाक्‌पटुता से वास्तविक पंचमकार का महत्व और भी बढ़ जाता है। यदि ऐसा न होता तो योग-प्रकरण में इन पाँचों तत्वों के अभाव की पूर्ति में उन के स्थान में अन्य वस्तुओं का निर्देश न किया जाता।"

"तो क्या आप उन के विचारों को भ्रमपूर्ण समझते हैं? क्या उन का अर्थ ठीक नहीं है?"

"उन के विचार निस्सन्देह भ्रान्तिकारक हैं। हाँ, अर्थ उन का ठीक है और सो भी है केवल योग की साधना की अवस्था में। उपासना के काल में पंचमकार अपने वास्तविक अर्थ में ही संग्रहीत होंगे।"

"इस का कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है या यह आप के निजी विचार हैं।"

"मैं अपने कथन का शास्त्रीय-प्रमाण-द्वारा समर्थन कर सकता हूँ। महा-निर्वाण तन्त्र को ही एक बार पढ़ जाइये। वह एक प्रसिद्ध आगम है और प्राप्य भी है। उस में पंचमकार का दोनों अर्थों में वर्णन किया गया है। योग की साधना के समय साधक के लिये आवश्यक पंचमकार का योग के अनुरूप ही विधान कर दिया गया है और भैरवी-चक्र आदि के अर्चनों में पंचमकार का उन के असली रूप में ही प्रयुक्त करने का उल्लेख किया गया है। यह इतनी स्पष्ट बात है कि इस स्थान पर आगम वचनों को प्रमाण रूप में उद्धृत करने की ज़रूरत नहीं है।"

मैं इस पर प्रश्न करने को ही था कि स्वामी जी फिर बोले। उन्हों ने कहा—आज मैं आप से क्षमा माँगता हूँ। एक विशेष कार्य से मुझे इन के गाँव जाना है। उन्हों ने उँगुली से बैठे हुये उन दो महानुभावों की ओर संकेत किया।

मैंने कहा—कोई हर्ज नहीं है। मैं कल फिर सेवा में उपस्थित होऊँगा। यह कह कर मैंने स्वामी जी का अभिवादन किया और विन्ध्याचल लौट आया। धर्मशाले में पहुँचने पर देखा, मुनीम जी खड़े हैं। एक ओर सब सामान बँधा हुआ रक्खा है। यह सब देख मैं घबरा गया। मैंने मुनीम जी से चिल्ला कर पूछा—कुशल तो है! उन्हों ने कहा—कोई चिन्ता की बात नहीं। सेठ जी ने कहा—जा कर लौटती गाड़ी से लिवा लाओ। कल कलकत्ते जाना निश्चित है। मैं लाचार था। बिना कान हिलाये शाम की गाड़ी से विन्ध्याचल छोड़ देना पड़ा। फिर आज तक उन स्वामी जी से भेंट नहीं हुई। यद्यपि मैं वाममार्ग का वैज्ञानिक रूप उन से नहीं जान सका, पर इतना ज़रूर हुआ है कि सत मतान्तरों के प्रति तब से सहिष्णु हो गया हूँ।

धर्मनिष्ठा की व्यावहारिकता

(लेखक—श्री पं० कृष्णदत्त तिवारी, गोंडा)

वागार्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

मारे शास्त्रकारों का यह सिद्धान्त है कि चूँकि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है इसलिये पिण्ड ब्रह्माण्ड के तत्त्व को पहिचानना ही उस का मुख्य काम या पुरुषार्थ है। इसी को धर्मशास्त्र में मोक्ष कहते हैं। परन्तु दृश्य सृष्टि के व्यवहारों की ओर ध्यान दे कर शास्त्रों में ही यह प्रतिपादन किया गया है कि पुरुषार्थ चार प्रकार के हैं जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें धर्म का स्थान प्रथम है। क्योंकि इसी के द्वारा शेष तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। इस विषय में प्रातः स्मरणीय भगवान् व्यास निर्भ्रान्त घोषणा करते हैं:—

ऊर्ध्ववाहु विरौम्येषः न च कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

अब विचारणीय यह है कि धर्म क्या है और इस का स्वरूप कितना व्यापक है। इसकी व्यापकता के विषय में मुझे केवल यही कहना है कि ज्यों-ज्यों इस भूल भुलैया में प्रवेश करते जाइये त्यों-त्यों यह अधिकाधिक गहन एवं जटिल होती जाती है। अस्तु

अवनति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। हम लोग आर्य्य-संतति हैं। हमारा उद्देश्य भी आर्य्योचित होना चाहिये। आदर्श के लिये हमारे अर्वाचीन तथा प्राचीन इतिहास के विस्तीर्ण क्षेत्र में अगणित दृष्टांत प्राप्त हैं। हम किसी उद्यम या व्यवसाय के अनुयायी क्यों न हों परन्तु हमें सदैव अपना एक आदर्श रखना चाहिये। और तदनुकूल अपने को ढालने में यत्नशील रहना चाहिये। इस के साथ ही साथ यह भी स्मरण रहे कि क्या हमारे आदर्शों ने लोक-धर्म की मर्य्यादा का उल्लंघन किया था अथवा उस का पालन किया था। क्या विश्वामित्र के साथ बन बन घूमते हुये राम-लक्ष्मण प्रातः-जागरण, गुरु-सेवा एवं सन्ध्योपासन नहीं करते थे ? और तो क्या महाभारत सरीखे घोर युद्ध में भी योद्धागण और न सही तो मुट्ठी भर धूलि ही भगवान भास्कर को संध्याकाल में समर्पण कर आत्म-निवेदन करते थे। वे युद्ध में प्रवृत्त होने के पूर्व वाणों के द्वारा अपने वंदनीय जनों की वन्दना कर के युद्धारम्भ करते थे। किसी कार्य की सफलता के हेतु सर्व-शक्तिशाली हो कर भी अपने अपने इष्ट-देव का यजन पूजन करते थे! भगवान् रामचन्द्र ने लंका में आक्रमण करने के पूर्व सेतुबन्ध पर भगवान् शंकर की स्थापना की थी एवं भगवान् कृष्ण ने भी पुत्र-प्राप्ति के लिये सहस्र कमल-पुष्पों द्वारा नित्य शंकर की आराधना करते थे और उस अनुष्ठान को इस दृढ़भक्ति से करते थे कि आवश्यकता पड़ने पर कमल के स्थान पर अपना नेत्र ही अर्पण करने को उद्यत हो गये थे। कहने का तात्पर्य यह कि हम को आर्य्य--आदर्श के अनुकूल आचार से रहना चाहिये। गुरुजनों की वन्दना श्रद्धापूर्वक करनी चाहिये, अपना इष्टदेव रखना एवं उसी का यजन, अन्य देवों के प्रति भी श्रद्धा--भाव रखते हुये, करना चाहिये। सन्ध्योपासन करना और सूर्यनारायण को आर्घ्य देना चाहिये। और अपने सांसारिक कामों को मनोनिग्रह से, दीर्घ प्रयत्न से, पूर्ण सामर्थ्य से करना चाहिये क्योंकि समर्थ स्वामी रामदास के कथनानुसार जो प्रपञ्च (सांसारिक कर्म) ही ठीक ठीक नहीं साध सकेगा उस अभागी से परमार्थ भी कैसे ठीक सधेगा।

सम्मतियाँ

"पुरुषार्थ की प्रवृत्ति होकर संतोष हुआ।"

महामहोपाध्याय पं० दुर्गा प्रसाद जी द्विवेदी।

× × ×

"पुरुषार्थ" मैंने इधर उधरसे देख लिया। अच्छा निकला। एक बात खटकी है। उसके कई लेखों की भाषा बनावटी अतएव क्लिष्ट है। भाषा सरल और स्वाभाविक होती है तभी ज्यादहतर आदमी उसे पढ़ते हैं और लेखों से लाभ उठाते हैं।"

आचार्य श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी।

कृपा पत्र मिला। 'पुरुषार्थ' भी मिला था। अच्छा निकला है। पर सुधार की जरूरत है। छपाई और कागज़ अधिक नेत्र सुखद होने चाहिये। लेख भी मनोरंजक ही अधिक होने चाहिये। गम्भीर दार्शनिक लेख एक से अधिक न होने चाहिये।"

श्री पं० देवी दत्त जी शुक्ल, संपादक 'सरस्वती'।

× × ×

"पुरुषार्थ का एक अंक मिला। उसमें नवीनता क्या है? समझ में नहीं आया। ऐसे मासिक पत्र तो अनेक हैं। कोई चमत्कार होगा तभी पत्र चल सकेगा।"

श्रीयुत स्वामी दयानन्द जी।

'पुरुषार्थ' का पहला अंक पढ़कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ आपका प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। पत्र के सभी लेख पण्डित्य-पूर्ण और तत्व जिज्ञासु धार्मिक सज्जनों के लिये अति उपकारक हैं। अतः मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देने के साथ भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि, 'पुरुषार्थ' का प्रत्येक घर में प्रचार हो।.........हिन्दी पाठकों की दशा के विचार से सूचना है कि यथा सम्भव लेखों की भाषा सरल या सुबोध रहे और भगवद्भक्तों विशेषतः शिवोपासकों के चित्र चरित्र भी प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया जाय।"

श्रीयुत नन्दकिशोर जी वाणीभूषण।

× × ×

"हमारा मराठी 'पुरुषार्थ' दस वर्षों से जारी है। ....मराठी हिंदी का झगड़ा नहीं होगा। हम दोनों मिल कर 'पुरुषार्थ' करेंगे और करवायेंगे। भारतवर्ष के सब भाषा-भाषियों को विशेष ही पुरुषार्थ करना चाहिये। स्वाधीनता प्राप्त होने तक जितना भी पुरुषार्थ होगा उतना थोड़ा है। आपका पुरुषार्थ सुयश को प्राप्त करे।"

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी।

× × ×

"आपके 'पुरुषार्थ' को देखकर, पढ़कर, अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इसमें कई लेख अत्यन्त मननीय और आत्मा को उठाने वाले हैं।"अथ त्रिविध दुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः।" असली पुरुषार्थ त्रिविध दुःखों की निवृत्ति में ही है। ऐसा सांख्य मत है। आशा है आपका 'पुरुषार्थ' उसी परम पुरुषार्थ की ओर दृष्टि रख कर ही कार्य क्षेत्र में अग्रसर होता रहेगा और 'पुरुषार्थ' को आध्यात्मिक वातावरण में ही पलने-पोसने दिया जायगा। मैं आपके 'पुरुषार्थ' की सफलता चाहता हूँ।"

श्री नरदेव शास्त्री जी 'वेदतीर्थ'।

× × ×

पत्र आपने वास्तव में अति सुन्दर प्रकट किया है। देख कर चित को अति आनंद प्राप्त हुआ। महेश्वर आपको पूर्ण सफलता प्रदान करे।

श्रीयुत राम यश जी गुप्त, मारवाड़।

× × ×

आपका 'पुरुषार्थ' नामक पत्र मिला। इसको हमने अच्छी तरह मन समाधान पूर्वक पढ़ा। पत्र का आशय व उद्देश्य बहुत अच्छा है। ऐसे पत्र की नितान्त आवश्यकता रही। आप तन, मन, धन से इस पत्र का प्रचार कार्य करिये। हम श्री विश्वनाथ जी से प्रार्थना करते हैं कि आपका 'पुरुषार्थ' नामक पत्र दिन पर दिन उन्नति करे। मैं आशा करता हूँ कि इस पत्र से प्रजा का बहुत उपकार होगा। धार्मिक सज्जनों से मेरा अनुरोध है कि इस पत्र के सदस्य ग्राहक बन कर अवश्य लाभ उठावें।

श्री ब्रह्मचारी चैतन्यानन्द, काशी।

× × ×

'पुरुषार्थ' में अग़ायत यानी हिम्मत, इस्तक़लाल और जिद्दोजहद इंसान के मुतल्लिक़ दिलचस्प पुर मालूमात मज़ामीन दर्ज हैं। मज़ामीन निगारों श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी डा० भगवानदास बनारस वग़ैरह गुरुक के नाम नजर आते हैं।

'हिन्दू' लाहौर।

× × ×

आपका पत्र बहुत अच्छा निकल रहा है। मैं इसे पढ़कर बहुत प्रसन्न हुआ।

श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, एम० ए०।

श्री काशी विश्वनाथो विजयतेतराम्

ॐ नमः शिवाय

विश्वेश्वराय नरकार्णवतारणाय कर्णामृताय शशिशेखर धारणाय।
कर्पूरकान्तिधवलाय जटाधराय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥

मंगल संवाद

ॐ नमः शिवाय मन्त्रोऽयं, सर्वपुमर्थसाधकः।
लिखितः प्रेमभक्तिभ्यां, रक्तमस्याऽस्ति भावुकैः॥ १॥

अर्थ—भावुक सज्जनों से प्रेम भक्ति द्वारा लाल स्याही से लिखा हुआ "ओम् नमः शिवाय" यह मन्त्र धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-रूप चतुर्विध पुरुषार्थ को देता है।

चञ्चलस्यातिव्यग्रस्य ह्यैकाग्र्यं मनसो भवेत्।
लेखनाद्भगवतश्शीघ्रं मन्त्रराजस्य सर्वदा॥ २॥

अर्थ—भगवान् महादेव का मन्त्रराज ओ३म् नमः शिवाय को लिखने से शीघ्र ही अतिव्यग्रता वाला चञ्चल मन सर्वदा एकाग्र होता है।

एकाग्रे मनसि नूनं पुण्यं प्राज्यं प्रकाशते।
पुण्यात्सौख्यं समस्त्येव, ह्यैकाग्र्यं परं तपः॥ ३॥

अर्थ—एकाग्र मन में निश्चय से अतिशय पुण्य प्रादुर्भूत होता है। पुण्य से ही सुख होता है। मन की एकाग्रता ही परम तप है।

मालया जपनाच्चिते ह्यैकाग्र्यं नहि संभवेत्॥।
लेखनात्तद्भवत्येव तस्माच्छ्रैष्ठ्यं तदुच्यते॥ ४॥

अर्थ—प्राथमिक साधक पुरुष को नियमतः माला के द्वारा मन्त्र जपने से चित्त में एकाग्रता नहीं होती है, लिखने से एकाग्रता हो जाती है। इस लिये जपने की अपेक्षा मन्त्र का लिखना अति श्रेष्ठ है।

आवृत्ति र्भूयसी चित्ते मन्त्रराजे सुलेखने।
जायते, वर्धते सौख्यं, जपश्चापि प्रसिध्यति॥ ५॥

अर्थ—ओम् नमः शिवाय यह मन्त्रराज को श्रद्धा से लिखने पर चित्त में मन्त्र की तीन चार आवृत्ति स्वभावतः हो जाती है। आनन्द भी बढ़ता है, जप भी सिद्ध होता है।

लेखनं मन्त्रराजस्य भक्त्या मर्त्ये सुखं महत्।
ददाति पुण्यलोकं वै कीर्तिंलोके प्रविस्तराम्॥ ६॥

अर्थ—ओम् नमः शिवाय यह मन्त्रराज का भक्तिपूर्वक लिखना, मनुष्य को महान सुख को, लोक में विस्तार वाली कीर्त्ति को और मरने के बाद पवित्र शिव-वैकुण्ठादि लोक को देता है।

धनं धान्यं सुपुत्रान्वै सतीं नारीम् सुसुन्दरीम्।
विद्यां मानं नृपागारे वीर्यं तेजो विरोगताम्॥ ७॥

अर्थ—और धन, धान्य, धार्मिक पुत्र, सती एवं अत्यन्त सुन्दरी नारी, विद्या, राजसभा में मान, बल, तेज, आरोग्य को भी देता है।

लेखनान्मन्त्रराजस्य सर्वकार्य्याणि सिद्ध्यति।
मुमुक्षुर्लभते मोक्षं स्वराज्यं देशभक्तकः॥ ८॥

अर्थ—ओम् नमः शिवाय यह मन्त्रराज को लिखने से सर्व कार्य सिद्ध होता है। मुमुक्षुः मोक्ष को और देशभक्त स्वराज्य को प्राप्त होता है।

मन्त्र लेखनमाहात्म्यमहो केनेदमुच्यते।
[illegible] शारदा॥ ९॥

अर्थ—ओम् नमः शिवाय यह मन्त्र लिखने का माहात्म्य कौन कह सकता है। साक्षात् सरस्वती भी परम आश्चर्य को प्राप्त हो कर मूक की तरह आचरण करती है।

त्वर्यताम् सज्जनाः! विज्ञाः! लोकलज्जां विहाय च।
लिख्यतां मन्त्रराजोऽयं श्रद्धया मा प्रमाद्यताम् ॥१०॥

अर्थ—हे सज्जन बुद्धिमान पुरुषो! लोकलज्जा को छोड़ कर शीघ्रता करो। यह मन्त्रराज को श्रद्धा से लिखो, प्रमाद न करो।

लिखन्तु लेखयन्तु भोः शिवप्रीत्यर्थमादरात्।
अनेन कर्मणा साक्षादाशुतोषः प्रसीदति ॥११॥

अर्थ—हे सज्जनो! ओ३म् नमः शिवाय मन्त्र शिव प्रीत्यर्थ आदरपूर्वक लिखते और लिखवाते रहना चाहिये। इस कार्य से साक्षात् परमात्मा आशुतोष शिव प्रसन्न होते हैं।

इदमपि भक्तिः शर्वस्य यया तुष्यन्ति देवताः।
मुरारिब्रह्मशक्त्याद्याः शिवरूपाः प्रपूजिताः ॥१२॥

अर्थ—ओम् नमः शिवाय इस मन्त्र का लिखना भगवान् शङ्कर की भक्ति है जिस से शिव के स्वरूप भूत, विष्णु, ब्रह्मा, भगवती आदि सर्व देवता पूजित हो कर प्रसन्न होते हैं।

नोट—३१ करोड़ ॐ नमः शिवाय मंत्र लिखे जा चुके हैं। चारों तरफ से फुटकर मंत्र भी कई लाखों की संख्या में प्रति-दिन आता रहता है। जिस स्थान से जो व्यक्ति शिवार्पण बुद्धि से १ करोड़ या ५० लाख मंत्र लिखवाकर भेजना स्वीकार करते हैं, उनके नाम से बैंक की शाखा रखी जाती है। इस प्रकार ६५ शाखायें इस पारमार्थिक बैंक की खुल चुकी हैं।

अतः बहुत से भगवत् प्रेमी भक्त जनों की आग्रह तथा शंकरजी की आन्तरीय प्रेरणा से यह निश्चय किया गया है कि प्रथम जो ११ करोड़ या ३३ करोड़ मंत्र एकत्रित करने का नियम किया था, उस अल्प संख्या को हटाकर सर्वसम्मति से जगत् कल्याणार्थ धर्मोन्नति निमित्त १०० करोड़ मंत्र प्रयागराज की अर्धकुम्भी तक एकत्रित होना चाहिये। प्रयागराज की अर्ध कुम्भी के अवसर पर शान्ति कर्म के पश्चात् काशी मुक्ति क्षेत्र में शिवालय बनवाकर १०० करोड़ ॐ नमः शिवाय मंत्रों के ऊपर श्री महादेव जी की स्थापना की जायगी। अतः मन्त्र लिखने वाले सज्जनों को चाहिये कि अपनी अपनी मातृभाषा में यथा शक्ति ॐ नमः शिवाय मंत्र लिखकर या लिखवाकर भेजें। कई सज्जनों ने सिर्फ ॐ तथा—राम मंत्र व ॐ नमो नारायणाय मंत्र भी कई लाखों की संख्या में लिखकर भेजे हैं। अतः जिस मंत्र में जिसकी निष्ठा हो उसे लिखकर या लिखवाकर भेज सकते हैं। काशीजी में उपस्थित मंत्रों का प्रति-दिन पूजनादिक होता है! और मण्डलेश्वर महाराज की मण्डली में प्रति सोमवार को बड़े समारोह के साथ ब्रह्मचारी मण्डल रुद्रीपाठ तथा हवन और ॐ नमः शिवाय मंत्रों का विधिवत्—वैदिक मंत्रों से पूजन करते हैं।

भवदीय शुभ चिंतक—

ब्र० चैतन्यानन्द (धर्मदत्त शर्मा)

मैनेजर ॐ नमः शिवाय बैंक काशी।
मंडली का हाल मुकाम
अहमदाबाद, मोतीबाग़, ऐलिसब्रिज रोड।

———

पुरुषार्थ

आश्विन, सं० १९९१.
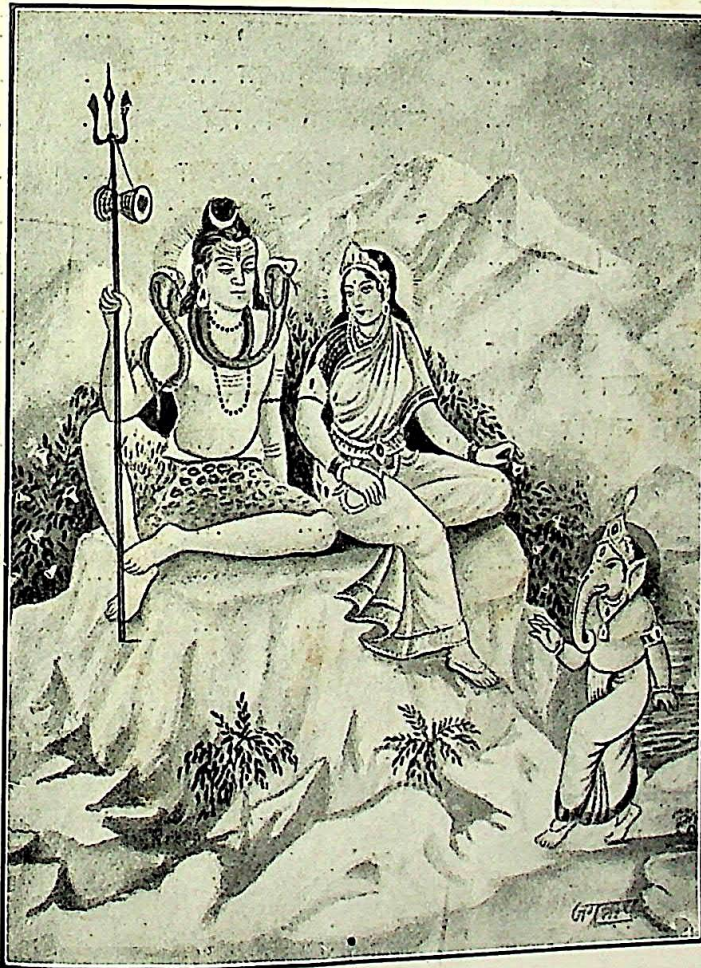
भाग १.
संख्या ४.

सम्पादक--
रामलाल तिवारी शास्त्री
शान्तिप्रसाद शुक्ल एम० ए०

वार्षिक मूल्य ३)
एक अंक का ।-)

विषय-सूची ।

चित्र-परिचय तथा आवश्यक विवरण

इस अंक के प्रारम्भ में जो पक्षिराज का चित्र है उस का विस्तृत विवरण, कथा के साथ श्री बा० गौरीशंकर गनेड़ीवाला ने "शरभावतार" शीर्षक लेख (पृष्ठ ९१-९२)में दिया है।

लेखों में से "शिव" (कविता), 'शिवाष्टकम्' (कविता) तथा "श्री शिव जी तथा तत्पूजनांगभूत भस्म और रुद्राक्ष" हमें कल्याण-सम्पादक श्री बा० हनुमान प्रसाद पोद्दार जी के सौजन्य और श्री बा० गौरीशंकर जी गनेड़ीवाला की कृपा से प्राप्त हुये हैं—जिस के लिये हम बड़े कृतज्ञ हैं।

"पुरुषार्थ" के प्रकाशन के विलम्ब के लिये हम बड़े ही क्षमाप्रार्थी हैं। कारणों का विवरण देना व्यर्थ है।

स० पु०

पक्षिराज (शरभावतार)

(श्री बा० गौरीशंकर गनेड़ीवाला के सौजन्य से।)

'शिवो गुरुः शिवोः वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः।
पुरुषार्थः शिवः सर्वं शिवादन्यन्न किञ्चन्'॥

प्रश्नोत्तर माला श्री 'पुरुषार्थाय' समर्पिता

[श्री गंगानाथ झा शर्म्मणा।]

पुरुषः कः — शिवभक्तः।

अर्थः कस्तस्य — शिवपदे रक्तिः।

कः साधन प्रकारः — शिवचरणे समर्पणं स्वस्य।

उपनिषत् कथा

[परमहंस परिव्राजकाचार्य मण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरी जी महाराज की उपनिषत् कथा]

संकलयिता-स्वामी दुर्गा चैतन्य भारती

(पूज्यपाद जयेन्द्रपुरी जी महाराज ने अहमदावाद-वासियों के निमन्त्रण पर चतुर्मास उपलक्ष्य से अहमदावाद में आकर उपनिषत्-कथा आरम्भ की है। उपनिषद् के न्याय-युक्त, दुर्बोध, दार्शनिक विषयों को वे ऐसे सरस तथा ज्ञान गर्भित भाव से व्याख्या कर रहे हैं कि उनका स्थान शहर से दो ढाई मील दूर होने पर भी प्रति-दिन बहुत सी जनता उनके मनोमोहक व्याख्यान को सुनने के लिये यूथ-यूथ उपस्थित हुआ करती है। उनका सारगर्भित व्याख्यान सुनकर मेरे मन में यह भाव उपस्थित हुआ कि यदि यह किसी धार्मिक पत्र में प्रकाशित होता तो, मेरा विचार है कि इससे बहुत से मनुष्यों का उपकार हो सकता। ऐसा विचार करते हुए मैं स्वामी जी के व्याख्यानों का सारांश संकलन करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। उसी का प्रथम अंश 'पुरुषार्थ' पत्र में प्रकाशित होने के लिये भेज रहा हूँ। यह संकलन स्वामीजी की स्वाभाविक ओजस्विनी भाषा में दिये हुए व्याख्यान की केवल रूप रेखा मात्र है। संकलन में कहीं कहीं यदि त्रुटि लक्षित हो तो वह हमारे ही भ्रम-प्रमाद के कारण समझा जाय। उसका उत्तरदायी मैं ही हूँ—संकलयिता।)

× × ×

इससे पूर्व यहाँ हमारे अवस्थान-काल में 'ईश' प्रभृति कई एक उपनिषदों पर व्याख्यान हो चुका था। उस समय तैत्तिरीय उपनिषद की 'ब्रह्मानन्द-वल्ली' तक कथा समाप्त हुई थी। अतएव अब उक्त उपनिषद की कथा 'भृगु-बल्ली' से आरम्भ की जाती है। उपनिषद वेद का शिरोभाग है, क्योंकि इसमें सर्वोच्च ब्रह्म-तत्त्व उपदिष्ट होता है। वेद में कर्म, उपासना तथा ब्रह्म-विद्या का उपदेश है। इसके बीच में ब्रह्म-विद्या अंश को ही उपनिषद कहा जाता है। ऋग्, यजुर्, साम, अथर्व, यह चारों वेद बहु शाखाओं में विस्तृत हैं। ऋक् के शाखाओं की संख्या २१, यजुर् के शाखाओं की संख्या १०९, साम के शाखाओं की संख्या १०००, एवं अथर्व के शाखाओं की संख्या ५० हैं। अतएव चारों वेदों की शाखाओं की समष्टि ११८० है। और एक एक शाखा एक वृहत् ग्रन्थ हैं। अतएव आप सहज ही में समझ सकते हैं कि यह वैदिक साहित्य किस प्रकार विपुल है। परन्तु दुःख का विषय यह है कि वेद की अधिक-भाग शाखायें अप्राप्य हैं। (?)। आज-कल जो शाखायें मिलती हैं वे केवल पाँच या सात हैं। कितनी तो उनमें से निर्वास होगई हैं एवं बहुत सी मुसलमान राजत्व-काल में विलुप्त हो गई। उक्त ११८० शाखाओं में से प्रत्येक के अन्तर्गत एक एक उपनिषद थी। ऐसा होने पर भी उपनिषदों की संख्या ११८० होती है। परन्तु आज-कल ११२ या ११४ से अधिक दुष्प्राप्य है। इनमें से जो दस मुख्य हैं वह ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैतिरीय, छांदोग्य, वृहदारण्यक और प्रश्न हैं।

वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् यह किसी विशेष पुरुष के बनाये हुए नहीं हैं। सृष्टि के प्रथम में ब्रह्मा के चतुर्मुख से इनका उच्चारण मात्र किया

था। ये उच्चरित शब्द जब उनके निजी कल्पना-विनिर्मित नहीं हैं तो उनके निज रचना प्रसूत भी नहीं हैं। पूर्व कल्प में सब वेद जिस आकार में थे एवं उनके शब्द-विन्यास के जो रूप थे, नई सृष्टि में भी उसी ठीक आकार के वे हैं। वे सब ब्रह्मा के हृदय से उदय हुये थे एवं उसी रूप से शब्द-विन्यास के द्वारा पुनरावृत्ति मात्र हुई थी। वैदिक मंत्रों के वर्णों का एक भी उलटा पुलटा नहीं हो सकता। वे कल्प-कल्पान्तर से एक ही रूप में अपरिवर्त्तित भाव से चले आ रहे हैं। दृष्टांत यथा— इस उपनिषद् की "ॐ ईशावास्यमिदम् सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।" इत्यादि।

यह मंत्र पूर्व कल्प में जिस रूप से था अन्यान्य कल्पों में भी एवं आज-कल के समय में भी ठीक उसी रूप में हैं; जैसे ब्रह्म अनादि है वैसे वेद भी अनादि हैं।

वेद स्वप्रमाण हैं। वेद का प्रमाण किसी शास्त्र पर निर्भर नहीं है। वेद की प्रामाणिकता श्रुति, स्मृति या पुराणादि पर अपेक्षा नहीं करती है। यदि जो बात वेदों में है स्मृति पुराणादि में न भी हों तथापि उससे वेद-उक्ति के प्रमाण के लिये कोई हानि नहीं हो सकती। और शास्त्रों की बात वेदार्थ–अनुकूल होने से ही माननीय हैं अन्यथा नहीं। वेद सर्वश्रेष्ट और सर्वोपरि हैं और सब शास्त्रों के प्रमाण के मूल हैं। यदि वेद स्वप्रमाण हुये तो उपनिषद् भी स्वप्रमाण हैं। यह वेदोक्त ब्रह्म–विद्या किसी और पुराण के प्रमाण की उपेक्षा नहीं करती; एवं यही ब्रह्म–विद्या एकमात्र कल्याण की हेतु है। तैत्तिरीय उपनिषद् की 'भृगु-वल्ली' के प्रारम्भ में ही जो आख्यायिका है उससे यह ज्ञात होता है;—"भृगुर्वै वारुणिः ॥ वरुण पितरमुपससार ॥ अधीहि भगवो ब्रह्मेति ॥ तस्मा एतत्प्रोवाच ॥ अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति ॥ तꣳ होवाच ॥ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ येन जातानि जीवन्ति ॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥ तद्विजिज्ञासस्व ॥ तद्ब्रह्मेति ॥ स तपोऽतप्यत ॥ स तपस्तप्त्वा ॥ (तै० भृगु० ३, १)

इसका अर्थ यह है कि वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के निकट उपस्थित होकर यह कहाः— "हे भगवन्! आप हमको ब्रह्म-विद्या का उपदेश करें।" पिता ने यथा-विधि आये हुये पुत्र भृगु को ब्रह्म-ज्ञान की उपायभूत अन्न, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मनः और वाक्य का उपदेश किया इसके बाद ब्रह्म के लक्षण का उपदेश किया। यथा;—"जिससे ब्रह्मादि से लेकर शम्भु-पर्यंत भूतवर्ग ने जन्म लाभ किया और जन्म पाकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, एवं विनाश-काल में उसी में विलीन होते हैं, उसी को विशेष रूप से जानने की इच्छा करो। वही ब्रह्म है।" भृगु यह बात सुन कर तपस्या करने लगे।

यहाँ अन्न का अर्थ अन्न-मय कोष से है। यह शरीर भोजन किये हुये अन्न द्वारा बना हुआ है एवं बिना इस अन्न के यह शरीर क्षीण हो जाता है। इसलिये स्थूल शरीर को अन्न-मय कोष कहते हैं। प्राण का अर्थ प्राण-मय कोष से है। प्राण-मय कोष अन्न-मय कोष के अति अन्तर में स्थित है। प्रकृति-पक्ष में यही प्राणमय कोष ही अन्न का भुक्ता है, कारण कि यह प्राण अपानादि पंच प्राण एवं वाक् पाणि इत्यादि पंच कर्मेन्द्रिय द्वारा गठित है, परन्तु यह सूक्ष्म होने पर भी ठीक स्थूल शरीर के ही नाईं आकृति-विशिष्ट हैं। इसके अतिरिक्त और भी कई एक कोष हैं। यथा;—मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय।

(शेष पृष्ठ १०१ में देखिए)

गणपति-पूजा

(ले०—डा० भगवानदास, वनारस)

(गतांक से आगे)

निर्वचन और बुद्धि

गणपति के स्वरूप और सामग्री का और भी अर्थ किया जा सकता है। निरुक्त शास्त्र में प्रसिद्ध है कि वेद का अर्थ कई प्रकार से करना चाहिये, यौगिक, याज्ञिक, ऐतिहासिक आदि। सांख्य के शब्दों में कहने से तीन मुख्य प्रकार ठहरते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। प्रत्यक्ष ही है कि पुरुष अर्थात् आत्मा, प्रकृति अर्थात् भूत, और उनके सम्बन्ध की शक्ति अर्थात् देव की ही लीला यह सब संसार है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों भाव हर जगह मिलते हैं।

आध्यात्मिक अर्थ

गणपति के रूपक का जो अर्थ आप लोगों से अब तक मैंने कहा वह अधिभूत और अधिदेव मिश्रित है। एक और सीधा सादा अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष ही घर के भीतर सब से अधिक आदर और फ़िक्र सब से छोटे बच्चे की की जाती है। और जितना ही मोटा ताजा बच्चा हो उतना ही अच्छा लगता है। और हाथी के बच्चे से बढ़कर कोई बच्चा अधिक गोल मोल नहीं होता। अब दूसरा अर्थ देखिये। मेरे एक मित्र (श्री चम्पत राय जी जैन, अवध प्रान्त के हरदोई नगर के बारिस्टर) ने (अपनी "गऊ-वाणी" नाम की छोटी पर बड़ी उत्तम पुस्तक में) बड़े यत्न से इस रूपक का शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ भी निकालने का यत्न किया है। वह भी कुछ घटा बढ़ा कर और शब्दों को बदल कर, आपको सुना देता हूँ।

वस्तुओं को काट डालने वाले चूहों का विवेचक, विशेषक, विभाजक, विच्छेदक, भेदकारक, विस्तारक, व्यासकारक, विश्लेषक, ("एनालिटिकल्") बुद्धि है, जो बुद्धि शंकर-मय संसार के अवयवों को पृथक् पृथक् करके पहिचानती है, विशेषों को पकड़ती है। "अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः"। "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्"। अर्थात् वस्तुओं के सूक्ष्म विशेषों को ही पहिचानने से उनके विषय में निश्चयात्मक ज्ञान होता है। और मन का यह विशेष लक्षण है कि वह दो ज्ञानों को साथ उत्पन्न नहीं होने देता।

अपना सिर कटना अहंकार का नाश है।

हाथी के सिर का नर शरीर से जुटना—यह संयोजक, समाहारक, समासकारक, अनुगमक, अभेद-साधक, समन्वय-कारक, विरोध-परिहारक, संश्लेषक ("सिंथेटिकल्") बुद्धि है। सब से बड़ा हाथी का सिर "महद्-बुद्धि" का सूचक है, जिसी का दूसरा नाम महानात्मा है।

सर्वेषामेव भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥
सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
तुल्यार्थता तु सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः॥ (चरक)

अर्थात्, "यदि सामान्य अंश पर ध्यान दें, तो भेदभाव, पृथकत्व और संकोच बढ़ता है। संसार में दोनों ही काम कर रहे हैं"। यथा यदि कहें, "हम भारतवासी", तो भारतवासितारूपी सामान्य गुण पर ध्यान देने से बत्तीस कोटि मनुष्य एक में आ

जाते हैं। यदि कहें कि हम ब्राह्मण, तो कुछ लाख ही रह जायँगे। उस पर भी कनौजिया, उस पर भी पंक्तिपावन, तो दस ही बीस बच जायँगे।

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनो गतिः।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः॥
(म० भा० शांति० अ० २५४)

"त्रिकाल दर्शिनी बुद्धिः।" "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः।"

अर्थात् बुद्धि ही आत्मा है, आत्मा की गति, आत्मा का स्फुरण, आत्मा की ज्योति का ही नाम बुद्धि है। बुद्धि ही जब विशेष भाव को पकड़ती है तब मन हो जाती है। बुद्धि ही तीनों काल देखती है। सब बुद्धियों का साक्षी, सब अनुभवों का अनुभव करने वाला आत्मा है, इत्यादि वाक्यों से इस बुद्धि की सूचना होती है। जीव को दोनों प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है। चूहों की भी, हाथी की भी, सामान्य ज्ञान की भी, अनेक ज्ञान की भी, एक ज्ञान की भी।

संमतं विदुषां ह्येतद् समासव्यासधारणम्।
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ (गीता)

विद्वानों को यह प्रिय है कि ज्ञान के संक्षिप्त रूप को भी और विस्तृत रूप को भी, सूत्र को भी और भाष्य को भी, बुद्धि में रखें। जब संसार के अनन्त नानात्व को एक आत्मा में बैठा हुआ, और उसी एक से सब नाना वस्तुओं को निकला हुआ, जीव पहिचान लेता है तभी उसका ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान सम्पन्न होता है और वह स्वयं ब्रह्मतत्त्व हो जाता है।

भेद देखना, व्यक्तियां देखना, यह साधारण जीव का काम है। वैदृश्य में सादृश्य देखना, व्याप्तिग्रह से अनुगम करना, "सिमिलारिटी इन् डैवर्सिटी" पहिचानना, यह न्याय-शास्त्री, "साय'टिस्ट" का काम है। अनेक में एक देखना, भेद में अभेद, वैदृश्य में सादृश्य के कारण की परमात्मा का ऐक्य जानना "यूनिटी इन डैवर्सिटी" समझना, यह वेद की अंतिम बात, ज्ञान की पराकाष्ठा, वेदांत है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं॥(गीता)

अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बंध और मोक्ष के सच्चे स्वरूप को जो बुद्धि पहिचानती है वही बुद्धि सात्त्विक है।

इसी बुद्धि के बल से गणेश को बुद्धिसागर का का विशेषण प्राप्त हुआ है, विद्यार्थियों के विशेषरूप से इष्टदेव बने हैं, सब विद्याओं, सब शास्त्रों के शिक्षक, प्रवर्त्तक, निर्माता हैं। विना इस बुद्धि के शास्त्र बेकार हैं।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
नेत्राभ्यां तु विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

जिसको अपनी निजी बुद्धि नहीं, उसको दूसरे की बुद्धिरूप शास्त्र क्या सहायता कर सकता है? जिसको आँख नहीं वह दर्पण लेकर क्या करेगा?

एक दंतता इसी अद्वैत बुद्धि का सूचक है। चूहों का अर्थ यह भी हो सकता है कि इस बुद्धि के प्राप्त करने में हजारों छोटे मोटे विघ्न होते हैं। ब्रह्मत्व इसको न मिले, जीव मेरे ही क़ाबू में रहे, इसलिये अविद्या देवी हजारों विघ्न किया करती हैं। जो वाहन और साधक हैं वे ही बाधक बना दिये जाते हैं। यथा—"शीघ्रव्याप्रकुसुमस्कन्धसंसर्ग."।

शुचिता की जब वृद्धि होती है तब पहिले अपने शरीर से जुगुप्सा, और पीछे दूसरों से असंसर्ग होना चाहिये। पर देखा क्या जाता है? सच्ची शुचिता तो है नहीं, केवल दंभात्मक द्वेषात्मक पवित्र-मन्यता अधिकतर फैली है। अपने शरीर से तो जुगुप्सा के स्थान में परम राग, "हमारा शरीर दूसरों के शरीरों से बहुत पवित्र है"—जन्मतः ही, उत्तम रूप रङ्ग स्नान सदाचार मेध्याहारादि के हेतु-विचार की कोई आवश्यकता ही नहीं। तपस्या से उसको कृश करने के स्थान में सुस्निग्ध पालन पोषण। दूसरों से असंसर्ग का अर्थ व्यवहारवर्जन नहीं किंतु केवल मिथ्या "छुओ मत," "छूओ मत"। इस सब का क्या फल है? जो ही शौच सात्त्विक होने से ब्रह्मज्ञान का साधक होता, वही राजस तामस होकर अहंकार, द्रोह और दंभ से प्रेरित होकर, उस अभेद दर्शन में नितान्त बाधक हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततां च सहस्राणां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता)

हज़ारों में एक सिद्धि पाने का यत्न करता है। और हजारों यत्न करनेवालों में कोई मुझे, मैं को, आत्मा को, परमात्मा को, ठीक ठीक पहिचानता है।

यह अभेदबुद्धि "बहूनां जन्मनामन्ते" जीव को प्राप्त होती है। इसलिये एतत्स्वरूप गणेश सब से छोटे, सबसे पीछे जन्मे, बालक रूप हैं। पर छोटे होने पर भी वृद्धों से वृद्ध हैं, "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"। पुरानों के भी पुराने हैं, कालातीत हैं, प्रधान प्रकृति के पहिले आविष्कार हैं। इसलिये सबके आगे इनकी पूजा होती है। यदि बुद्धि ही की पूजा नहीं, तो कार्य की सिद्धि कहाँ? आज-कल के बुद्धि-विद्रोहियों को इस पर विचार करना चाहिये। पर यदि विचार कर सकते तो बुद्धिद्रोही क्यों होते। यदि बुद्धिद्रोही हैं तो विचार कैसे करेंगे। अभेद्य-चक्र है।

कोई अभिमन्यु परमात्माभिमानी ही इसे भेद सकता है। स्यात् उसकी मृत्यु भी इसी भेदन में हो। पर रिपु अवश्य परास्त होंगे।

अच्छा, इस हाथी को "मोदक" बहुत प्रिय है। क्यों न हो। ब्रह्मबुद्धिवाला जीव, "नित्यानन्दः परम सुखदः केवलो ज्ञानमूर्त्तिः, तो मोद स्वरूप ही, सदा ब्रह्मानन्द में, "भूमा वै सुखं" में, मग्न ही है। उसको मोदक के सिवा और क्या अच्छा लगे?

एकदन्त है, अद्वैतवादी है, लम्बोदर है, अनन्त ब्रह्मांड-रूप प्रत्यक्ष गोल लड्डुक जिसके उदर में हैं, "जगन्ति यस्यां सविकासमासत," प्रत्यक्ष चमड़े की आँख से देख पड़नेवाला आकाश ब्रह्म, जिसमें यह सब ब्रह्म के अंड ब्रह्मांड, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, बुध, शुक्र, बृहस्पति, शनि, तारागण, फिर रहे हैं, ऐसा महाप्राणी, महाविराट् लम्बोदर न हो तो और क्या हो?

यह हुआ गणपति का आध्यात्मिक रूप। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, गणेशखंड में, लिखा ही है—

ज्ञानार्थवाचको गश्च णश्च निर्वाणवाचकः।
तयोरीशं परं ब्रह्म गणेशं प्रणमाम्यहम्॥

"ग" का अर्थ ज्ञान, "ण" का अर्थ निर्वाण, दोनों का ईश गणेश अर्थात् ब्रह्म, उसको नमस्कार है।

तथा लिंग पुराण में भी यही बात दूसरे शब्दों से कही है। अर्थात् शिव ही गणेश रूप होगये।

ततस्तदा निशम्य वै पिनाकधृक् सुरेश्वरः।
गणेश्वरं सुरेश्वरं वपुर्दधार सः शिवः॥
(अ० १०५)

घूम फिर कर सभी देवता परमात्मा ही के नाम और रूप हैं। और असली गणपति भी और महादेव भी वही हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं तरिश्वानमाहुः॥ (ऋग्वेद)

एतमेके वदंत्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ (मनु)

जो गणपति के इस असली आध्यात्मिक स्वरूप को हृदय में सदा धारण करेंगे वे ही सच्चे गणपति स्वयं बन सकेंगे।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

गणपतित्व की मुसीबतें

गणपतित्व की मुसीबतें आप लोग सामने देख रहे हो। यह नई बात नहीं है, बहुत पुरानी है। पाँच हज़ार वर्ष पहिले कृष्ण इसी विषय का अपना रोना नारद से रोये। उनकी जीवनी के ऐसे अंशों पर आजकल भक्तजन कम ध्यान देते हैं। देना चाहिये। बड़ी व्यवहार-शिक्षा मिलती है। अपने मामा कंस को मार कर कृष्ण ने नाना उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठा कर मथुरा में काम चलाना चाहा, और शराब-कबाब-प्रधान मद्य-मांस-भूयिष्ट इन्द्रमख को बन्द करके कृषि-प्रधान गोमख की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्य विपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
क्रियाविशेष बहुलां...तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

इत्यादि गीता के श्लोकों से, तथा भागवत (११स्कन्ध) के

फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि।
अग्निमुग्धा धूमतांता स्वं लोकं न विदन्ति ते॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥
उपासत् इन्द्रमुख्यान् देवादीन्न तथैव माम्।

अर्थात्, यह जो, वेद वेद करके, नासमझ लोग, छोटी छोटी व्यर्थ क्रियाओं से भरी कर्मकांड की बात सदा किया करते हैं, मानों दूसरी कोई बात है ही नहीं, उसके भुलावे में आकर, भोग और ऐश्वर्य मिलेगा इस लालच में पड़कर, मनुष्य अपना सच्चा कल्याण नहीं पहिचानते और ब्रह्मज्ञान के लिये दृढ़ निश्चय करके समाधि में बुद्धि को नहीं लगाते। इस फूलपत्ता सी फैलाई, लुभावनी फलश्रुति के फेर में पड़कर अग्नि जलाते और धुआं खाते हैं, जिह्वा के सुख के लिये यज्ञ के बहाने हिंसा करते हैं। राजस तामस देवताओं की पूजा करते हैं, और मुझको, मैं को, परमात्मा को भूल जाते हैं।

इत्यादि वाक्यों से, कृष्ण के समाज-सुधार सम्बंधी भाव जान पड़ते हैं। शांतिपर्व, अ० २७१ में भी हिंसायज्ञों को धूर्त्तप्रवृत्तित कहा है। बुद्ध, शंकर आदि ने भी अति-क्रिया-बहुल बुद्धिनाशक कर्मकांड की निन्दा की। पर समाज सुधारकों की जो, दशा सदा होती है वही कृष्ण की हुई। एक सौ आठ वर्ष पृथ्वी पर रहे।

स्यात् ही कोई दिन बीता हो जिसमें लाठी, सोंटा, डंडा उनसे और दूसरे से नहीं चला। मार खाना और मारना ही मुख्य काम रहा। मथुरा में उनको उनके पड़ोसियों ने, उद्धत, महा "मिलिटरिस्ट", सेनावादी, युद्धवादी, शस्त्रवादी, बलवादी, क्षत्रियों ने, अपने मनमाना प्रबन्ध प्रजा का नहीं करने दिया। सत्रह बेर जरासन्ध ने मथुरा पर धावा किया। अन्त को पाँच सौ कोस दूर, मरुधन्व के पार जाकर, समुद्र के किनारे, कृष्ण ने द्वारका बसाया। समुद्र ही से तो लक्ष्मी देवी का प्रादुर्भाव होता है। जैसा अंग्रेजों को हुआ। जमीन से तो अन्नपूर्णा ही मिलती हैं। अस्तु। द्वारका में अन्धक-वृष्णि-संघ के रूप में कृष्ण ने एक चाल के संघराज्य, "रिपब्लिक" अथवा "आलिगार्की" की स्थापना करने की परीक्षा "एक्सपेरिमेंट", किया। बड़ी कठिनता पड़ी। नारद से इसी का रोना रोये। "अपने दिल का हाल किससे कहूँ। तुम मेरे पुराने सच्चे मित्र हो, इससे तुमसे कहना चाहता हूँ।" "कहिये महाराज, अवश्य।" "सुनो।"

दास्यमैश्वर्यवादेना ज्ञातीनां तु करोम्यहम्।
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे॥
अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मां दहति नित्यदा॥
बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं सदा गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किंनु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किंनु दुःखतरं ततः॥
सोऽहं कितव मातेव द्वयोरपि महामुने।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम्॥

(म० भा० शांति अ० ८१)

"नाम तो मेरा ईश्वर पुकारा जाता है, पर काम मेरा गुलामी करने का है। मजा दूसरे लेते हैं, मिहनत मैं करता हूँ। सुख-भोग थोड़ा और गाली-भोग बहुत अधिक मिलता है। जिनका भला चाहता हूँ, जिनके लिये दिन-रात पिसौनी पीसता हूँ, वे ही सबसे अधिक मुझे बुरा कहते हैं। आग बालने के लिये जैसे आदमी अरणी के ऊपर, मन देके, वेग से, अग्नि काष्ठ को मथता है, वैसे रस से ये सब मेरे रिश्तेदार मेरे हृदय को गालियों से और निंदा से नित्य मथा करते हैं। इसके कारण दिन-रात मेरा हृदय जला करता है। बलदेव मेरे बड़े भाई साहेब, अपनी भुजा ही देखा करते हैं, और बल के मद में मस्त रहते हैं। छोटे भाई साहब, गद, अपनी सुकुमारता के मारे चूर रहते हैं। चिरञ्जीव प्रद्युम्नजी महाराज को अपना सुन्दर मुखड़ा ऐना में निहारने ही से छुट्टी नहीं मिलती। दुनियाँ भरके झंझट का काम जो मेरे सिर पर लदा है, उसके ढोने में कोई मेरी सहायता नहीं करता। उग्रसेन-आहुक, और अक्रूर, दोनों मेरे तो बड़े भक्त बनते हैं, और हैं भी, पर आपस में इतना लड़ते हैं कि मेरे नाकों दम रहता है। जिसके पास ऐसे दो भक्त न हों उसकी जिन्दगी व्यर्थ है। और जिसके पास ऐसे दो भक्त हों, उसका जीवन और भी व्यर्थ है। मेरी तो हालत उस अम्मा की ऐसी हो रही है जिसके दो जुआरी पुत्र हों, और आपस में ही जुआ खेलें, और उसका दिन यही मनाते बीते कि एक तो जीते और दूसरा तो हारे नहीं। सो मेरे पुराने मित्र, तुमको कोई उपाय सूझे तो सलाह दो।"

नारद बोले, "सुनिये महाराज, आपत् दो प्रकार की होती है, एक तो दूसरों की की हुई, एक अपने आप बुलाई हुई। सो आपकी आपत् अपने बुलाई हुई है। आपको क्या जरूरत पड़ी हुई थी कि कंस

को मार कर उनके सठियाये बूढ़े पिता आहुक उग्रसेन को गद्दी पर बिठाने गये, और फिर उनको अकर्मण्य "बभ्रु" देख कर उनके ऊपर अक्रूर को "भोज" बनाया। (अक्रूर भोज प्रभवा ... बभ्रु प्रसेनत ...। बभ्रु और भोज शब्दों के अर्थ का निश्चित पता नहीं चलता, पर ऐसा जान पड़ता है कि जब राजगद्दी का अधिकारी कार्य-क्षम न हो तो उसको बभ्रु कहते थे, और राज्य-कार्य करने को नियुक्त किया जाता था उसको भोज)। आप को गोदैयाचाली का, चट्टे बट्टे लड़ाने का, छद्मवेश में स्थित होकर कठपुतली ऐसा आदमियों को नचाने का, शौक है, तो फिर आप को भी उन के साथ नाचना पड़ता है। अब जो किया उस को निबाहिये। बिना लोहे के शस्त्र से इन ज्ञातियों की जीभ काटिये।"

"सो कौन सा शस्त्र है?"

"गाली के बदले मीठी बोली। चोरी के बदले और इनाम। अपमान के बदले सम्मान।"

नान्यत्र बुद्धिक्षांतिभ्यां नान्यत्रेंद्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गुणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते॥

दुनिया की गति को, आदमियों के चाल चलन को, देखना बूझना, और बूझ के सहना, क्षमा करना, अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, धन को नित्य नित्य त्यागते रहना इस के सिवाय प्रज्ञावान् पुरुष के लिये और कोई काम बाक़ी नहीं रहता।

"बहुत अच्छा, सलाह कड़ुवी तो है पर ठीक है। तत्काल तो आप ने जो मेरा आश्वासन किया वह मानों काटे पर नोन और जले पर अंगारा रखा। पर भाई, बात सच्ची कही।"

"महाराज, आप को मैं क्या सलाह दे सकता हूँ। आप स्वयं गुरुओं के गुरु, जगद्गुरु हो, आप ने मेरे मुँह से जगत् की शिक्षा के लिये जो कहलवाया वह मैंने कह दिया।"

गणराज्य

यह हुई कृष्ण की कथा। (महाभारत, शांति-पर्व अध्याय ८१)। ब्रह्मवैवर्त्त में कहा है कि गणेश श्री कृष्ण-विष्णु के ही अंश हैं। सत्त्व के देवता विष्णु। सत्त्व का अर्थ है, ज्ञान, बुद्धि। गणेश बुद्धि-सागर। इस लिये विष्णु का अंश होना ठीक ही है। ऐसे ही श्रीकृष्ण के बेटे प्रद्युम्न, स्वामिकार्त्तिक गुह के, तथा कामदेव के, तथा सनत्कुमार के अंश कहे गये हैं। यह सब पौराणिक रूपक, सांख्य के तीनों गुणों के परस्पर सहचार तथा विरोध के ही रूपक हैं।

"प्रकृते किमायातम्।" तो प्रकृत में यह बात पुनः पुनः इन सब कथाओं से निकलती है कि गणपतित्व कैसा कठिन है। भीष्म ने गणराज्य के विषय में कहा है:—

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मंत्र संवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः॥
गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम।
वैर संदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप॥
भेदे गणा विनश्येयुर्भिन्नास्तु सुजयाः परैः।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा॥
कुलेषु कलहा जाताः कुल वृद्धैरुपेक्षिताः।
गोत्रस्य नाशं कुर्वंति गणभेदस्य कारणम्॥
अकस्मात् क्रोध मोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात्।
अन्योऽन्यं नाभिभाषंते तत्पराभवलक्षणम्॥
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च नाश्यंते रिपुभिर्गणाः।
तस्मात्संघात मेवाहुः गणानां शरणं महत्॥

"गणों का नाश एक मात्र परस्पर भेद से होता है। और रहस्य का, शासन सम्बन्धी मंत्रों का, गुप्त रखना भी बहुत आदमियों की सभा के लिये दुष्कर है। गण में जो मुख्य कुल होते हैं, और उन कुलों के जो मुख्य होते हैं और राजा के नाम से कहलाते हैं, (कुलपति भी नरपति, राजा, आदि शब्दों से व्यवहार किये जाते थे) उन में आपस में अकस्मात् वैर बढ़ जाने के मुख्य कारण लोभ और अमर्ष होते हैं। और इन कुलमुख्यों के वैर से कुलों में वैर, और कुलों में वैर से गण में व्यापी भेद, पैदा होता है, और तब मेल बनाये रहने का सदा यत्न करते रहना, गणों का परम धर्म है। मनुष्यों का स्वभाव ही है कि क्रोध, मोह, लोभ अकस्मात् उन के हृदय में पैदा हो जाते हैं, और उन के कारण एक दूसरे से बोलना बन्द कर देते हैं। दूसरों के हाथ से पराभव पाने का यह साक्षात् लक्षण है। अतः कुल-वृद्धों का धर्म है कि जब ऐसे कलह कोई दिखाई पड़ें तो तत्काल उन के रोकने और मिटाने का यत्न करें, नहीं तो सारे गोत्र और गण का नाश हो जायेगा। इस क्रोध, लोभ, मोह की उत्पत्ति का मुख्य कारण यह है कि गण में, जाति तो सब की सदृश, कुल में भी सब सदृश, कोई किसी को ऊँचा नीचा नहीं कह सकता, पर उद्योग में, बुद्धि में, रूप में, द्रव्य में तो कोई दो आदमी भी ठीक बराबर नहीं। तो भी जिन में ये गुण कम हैं वे भी उन की बराबरी ही करना चाहते हैं। जिन के पास ये गुण अधिक मात्रामें हैं और ये उस संघर्ष का अमर्ष करते हैं, उस को सहते नहीं। एक ओर लोभ और ईर्ष्या, एक ओर अमर्ष, सब ओर मोह। कैसे काम चले ?

सर्वे यत्र प्रणेतारः, सर्वे पंडितमानिनः।
सर्वे महत्वमिच्छन्ति, तद्वृन्दं ह्माशु नश्यति॥

जिस समाज में सभी नेता बनना चाहे, सभी अपने को सर्वोत्तम पंडित समझें, सभी चाहें कि सब से बड़ा मैं ही होऊँ, ऐसा समाज बहुत जल्दी ही डूबता है।

संघात, सहनन, संग्रन्थन का उपाय

तो अब यह नैसर्गिक कठिनता कैसे सरल की जाय ? बिना संघ के शक्ति नहीं। बिना कायव्यूह-वत्, शरीरसंघातवत्, अंगागिभाव के मुख्य, और गौण अवयव के, सिर और हाथ पैर के, बड़े छोटे के, नेता नीत के, गणपति और गण के, संघ नहीं। पर गण में, संघ में, सभी बराबरी का दावा करने वाले। कौन किस का कहना माने ? इस महाविरोध का परिहार कैसे हो। बहुत ही कठिन है। इसी लिये इतिहास से जान पड़ता है कि "रिपब्लिक" अधिक नहीं चलती। रोज़ उथल पुथल इन में हुआ करता है। जो रिपब्लिक अर्थात् गणराज्य कुछ चले वे नाम को गणराज्य थे, पर वस्तुतः गणपति-राज्य थे। कृष्ण के ऐसे गणपति रहते हुये भी अंधक-वृष्णि-संघ ने अपना संहार कर ही डाला ! गण-राज्य चलाने का एकमात्र उपाय वही है जिस की सूचना इस लेख के पूर्वार्द्ध में नैषध के अर्धश्लोक से की गई। तथा नारद ने कृष्ण से स्पष्ट शब्दों में कहा। और पुरुषसूक्त में भी वही सूचना दूसरे प्रकार से की है।

समुद्र–मन्थन

पुराण का समुद्र-मन्थन का रूपक बड़ा उदात्त, उदग्र, ओजस्वी, सारगर्भ, ज्ञानपूर्ण है। समुद्र नाम आकाश का भी निरुक्त में कहा है। देव और दैत्य-रूपी दो विरुद्ध शक्तियाँ, जो एक ही मूलशक्ति, माया, अविद्या, तृष्णा, के दो अंश हैं, यथा "इलेक्ट्रिसिटी"

के "नेगेटिव्" और "पाजिटिव्" अंश, इस आकाश समुद्र में परस्पर संघर्ष की क्रीड़ा करती हैं। "इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" प्रत्येक इंद्रिय के प्रत्येक विषय के साथ, और द्वेष भी, दोनों ही सदा लगे हैं। यह बात चर्म-चक्षु को भी सदा प्रत्यक्ष है। संसार का नाम ही द्वंद्व है। सृष्टि जब होती है तब संवद्ध-विरुद्ध जोड़ों की ही होती है। सब चीज़ जोड़ा जोड़ा हैं। क़ुरान में भी लिखा है। "मिन् कुल्ले शयीन् खलक़्ना ज़ौज़ैन्" "मैंने (आत्मा ने) सब चीज़ें जोड़ा जोड़ा पैदा की है।" दुर्गा सत-शती में यही बात मधुकैटभ के रूपक से कही है। ब्रह्मा सृष्टि का विचार कर ही रहे थे कि मधुकैटभ नाम के दो असुर—

विष्णुकर्णमलोद्भूतौ ब्रह्माणं हंतुमुद्यतौ।
मधुस्तु कामः संप्रोक्तः कैटभः क्रोध उच्यते॥
अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा शुभचतुर्मुखः।
स तामसो मधुर्जातः कैटभो राजसस्तु सः॥
(म० भा० शांति० अ० ३५७)

अर्थात् ब्रह्मा नाम अहंकार का सात्त्विक अंश, कहीं बुद्धितत्त्व भी कहा है। विसिनोति, व्यापनोति इति विष्णुः। व्यापक महत्तत्त्व। उसके कर्ण के मल से, अर्थात् दूषित् राजस शब्दरूप। (आकाश का गुण शब्द, जो कर्णग्राह्य है), मधु अर्थात् काम, और कैटभ अर्थात् क्रोध पैदा हुये, और ब्रह्मा को मारने, अर्थात् वेद के शुद्ध सात्त्विक छंद को दूषित करने को दौड़े।

"ब्रह्मा वेदमयी निधिः" ज्ञान। उसके मारनेवाले काम और क्रोध। दोनों मरें तो कैसे। "आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता।" अपनी खुशी से ही मरेंगे। "चरिताधिकारे चेतसि" इत्यादि। जब उनका अधिकार चलका संवेग कम हो जाता है, तब उस भूमि पर, अर्थात् चित्त की उस अवस्था में, ये दोनों मरते हैं, जहाँ पृथ्वी और जल का संयोग न हो। "अग्नीषोमीयं जगत्।" "भूस्थानी देवता अग्निः।" जहाँ इन दोनों का संयोग न हो। (और ये दोनों भी काम क्रोध ही के दूसरे रूप हैं, जल काम का, अग्नि क्रोध का), अर्थात् दोनों की मध्यावस्था में, चित्त शांत और मध्यस्थ, तटस्थ, होता है।

यथा शीतोष्णयोर्मध्ये नैवोष्णं न च शीतता।
न पुण्यं न च वा पापं न सुखं नैव दुःखिता॥
न बंधं न च वा मोक्षः इत्येषा परमार्थता।

अर्थात् शीत और उष्ण के बीच में एक ऐसी अवस्था होती है जिसको न शीत ही कह सकते हैं, न उष्ण। परमार्थता का स्वरूप ही यह है कि उसमें द्वन्द्व नहीं, न सुख न दुःख, न पुण्य न पाप, न बंध न मोक्ष।

इस अवस्था में भी कौन मारे? तो सात्त्विक ज्ञानात्मक परमार्थ-बुद्धि स्वरूप विष्णु। और वह भी कहाँ पर? "ततस्तु जघने कृत्वा संच्छिन्ने शिरसी तयोः।" जघन भी शरीर का भव्य भाग है। इससे मध्यस्थता का पुनर्वार सूचन होता है। इस भाग पर वश होने से, आहारैषणा और दारैषणा पर निग्रह होने से काम, क्रोध का निग्रह हो सकता है। श्रोत्र पहिली इन्द्रिय है। वहाँ इनका जन्म हुआ। कटि प्राण का एक मुख्य स्थान है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि चक्र यहाँ हैं। इसी कटि में, मध्य में, इन दोनों की शांति भी होनी चाहिये। साथही यह द्वन्द्व आविर्भूत होता है, साथही तिरोभूत होता है। द्वंद्व जोड़ा-जोड़ा, दो-दो में, विरोध भी है और साथ ही साथ अनुरोध भी है। तो देव और दैत्य जब एक ही मूल शक्ति, वासुकि (जगद् वासयति, व्याप्नोति,

इति) नाग को, जो मन्दर पर्वत (मेरुदंड, पृष्टवंश, ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ, इड़ापिंगलादि नाड़ीस्थान) के चारों ओर कुण्डलित है, दो ओर से खींचते हैं, तब इस जड़ शरीर में चक्रवत् परिवर्त्त आरम्भ होता है और आकाश समुद्र में से विविध प्रकार के रत्नभूत पदार्थ निकलते हैं। पर इस उत्कट रगड़ का पहिला फल हालाहल क्रोध विष पैदा होता है। उसको पीनेवाला और पचानेवाला यदि कोई न हो तो सब खेल विगड़ जाय। जो कुल के वृद्धतम हों उन्हीं का यह धर्म और कर्तव्य है कि वे इस ज़हर को पीकर बैठें, और सदा पचाते रहें। और सब बोझ ढोने का, मिहनत करने का, दौड़-धूप का, खींचा तानी का काम जवान लोग, देव-दैत्य करेंगे। यह तो हुआ क्लेश का बटवारा। शुल्क का भी बटवारा देखिये। महादेव को और कुछ मिहनत नहीं करनी पड़ी। और देव-दैत्य वारुणी और अमृत आदि रत्न को आपस में बाँट लेते हैं, और उस बटवारे के हेर फेर के लिये, कौन अधिकार किस को मिले, इस के लिये, सदा लड़ते रहते हैं। पर महादेव का सब ही, देव-पक्ष भी और दैत्य-पक्ष भी, दोनों दल (पार्टी) आदर और पूजन करते रहते हैं।

"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥"

अर्थात् जो आगे कड़ुआ विष समान जान पड़ता पड़ता है वह पीछे मीठा अमृत ऐसा फलदायी और गुणकारी होता है।

इस रूपक से गणपति और गण का कर्त्तव्य जान पड़ता है, जिस के पालन से उपर्युक्त घोर गण-निसर्गान्तर्गत विरोध का परिहार हो सकता है। कृष्ण-नारद-संवाद का भी यही अर्थ है। पुरुष-सूक्त-सूचित पुरुषबलि और वर्ण-धर्म-कर्म-वृत्त-शुल्कादि के विभाग का भी यही अर्थ है। जब तक गणपति में ऐसा स्वार्थत्याग और लोकहित बुद्धि होगी, "वात्सल्ये मनुवन् नृणां", और गण में ऐसे वृद्ध का आदर होगा, तब गण की संघ-शक्ति क्षीण न होगी। जब नहीं, तब गण अवश्य नष्ट होगा।

जब शिव भी हळाहल को गले में धारण करते करते, घबरा जाते हैं तब—

हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूलन विधिं।

ब्रह्मांड को जला कर पीस कर भस्म कर धूल उड़ा डालते हैं और प्रलय होता है। तथा नित्य नित्य झगड़ा निपटाते निपटाते, दोनों ओर की मनौती करते करते, जब वृद्ध लोग स्वयं थक कर क्रुद्ध हो जाते हैं तब मनुष्य समाज में महाभारत होती है।

क्या उपाय किया जाय कि राजस तामस भावों की रोक और सात्त्विक उदार भावों का उद्भावन और परिपोषण समाज में और समाज के नेता में सदा होता रहे, और जनता उस के पीछे सम्मान का उपहार लेकर दौड़ती रहे?

इस का एकमात्र उपाय यही है कि एकदंतता सर्वप्राणेन साधी जाय। इसमें जितना परिश्रम किया जाय वह थोड़ा है। बिना इस के कोई सत्कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। गणपति के सारे कुनबे के आचरण की सिरवतन की यही अद्वैतता, अभेद-बुद्धि, और तज्जनित स्वार्थत्याग है। गणपति के पिता महादेव, सब से बड़े देव, अल्लाह-अक्बर (अकबर=सब से बड़ा, अल्लाह=देव) का स्वरूप ही यह है।

महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः,
कपालं चेतीयत्तव वरद तंत्रोपकरणं।
सुरास्तां तामृद्धिं दधीत तु भवद्भ्रूप्रणिहितां,
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति॥

अर्थात्,

बैल अरु डमरू औ फरसा अरु गजचर्म,
भस्म, सर्प, माला कपाल के कलाप की।
देवन के देव, वरदाता वर वस्तुन के,
अपनी सुख संपति बस एती ही आप की।
भौंह के इसारे पुनि देव पावैं ऋद्धि सिद्धि,
काम आत्माराम को न यहि मायापाप की॥

(उक्षति, वर्षति, मेहति बीजान्, जीवान्, प्राणान्, धर्मान् इति महोक्षः वृषः, धर्ममेधः, धर्मः, चार पैरवाला चार-वर्ण-आश्रम-पुरुषार्थ-वेद-महावाक्य-दिशा-आदि रूपी परमात्मा का वाहन। कुंडलिनी शक्ति की इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों में गति के आकार का अनुकरण करनेवाला डमरू। परमे ब्रह्मणि शाययति, आत्मनः अन्यत् इतरत् जड़ं जगत् शृणाति नाशयति, इति परशुः, अविद्या का, जड़ जगत् का, बंध का खंडन करनेवाला, ब्रह्म में शयन कराने वाला, मोक्ष देनेवाला, ज्ञान, आत्मबोध। गजचर्मवत् काला और अति विस्तारवाला अनन्त नील आकाश। श्वेत भस्म के ऐसे ज्योतीरेणुरूप नक्षत्र तारों के असंख्य ब्रह्मांड। सर्पवत् चक्राकार भ्रमण करने कराने वाली संसार के प्रत्येक अणु में व्याप्त शक्तियाँ। उत्कृष्ट महर्षि और देव और जगन्नियंता, संसार के चलाने वाले, प्रत्येक नक्षत्र तारा ब्रह्मांड के अधिकारी जीव, कपाल रूप, शिरोरूप, मुख्यांगरूप—यही परमात्मा की प्रत्यक्ष सामग्री है।)

गणपति की माता सर्व-शक्ति-रूपिणी जगद्धात्री ने भी ऐसे ही जगद्भर्त्ता को बड़ी तपस्या से भर्त्ता पाया।

वृषो वृद्धो यानं विषमशनमाशा निवसनं।
श्मशानेष्वाक्रीड़ा भुजगनिवहो भूषणविधिः॥
समग्रा सामग्री जगति विदितैव स्मररिपोर।
यदेतस्यैश्वर्यं तव जननि सौभाग्यमहिमा॥

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पंदितुमपि॥
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिंच्यादिभिरपि।
प्रणंतुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

अर्थात्,

बूढ़े बैल की सवारी, विष भोजन, दिशा वस्त्र है,
सेज समसान, भुजग भूषन ठाँव लाग है।
जग में नहिं जानत कौन अदभुत चरित्र इनके,
ईशता तौ इनकी सब देवी कौ सुहाग है।
युक्त होत शक्ति(="इ")से जब तब हो"शिव"होत प्रभु,
नाहीं तौ "शव"—समान डोल हू न सकतु है।
हरि-हर-विरिंच जाकी वंदना करत हैं नित्य,
वाकी स्तुति पुण्य-हीन बोल न सकतु है॥

(तंत्र-शास्त्र में, अ=विष्णु, इ=शक्ति, उ=ब्रह्मा, म=रुद्र इत्यादि प्रत्येक वर्ण का विशेष सांकेतिक अर्थ है।)

इन्हीं महादेव की महादेवी गणपति की माता की हृदय से उपासना करने से ही, गणपतित्व की भी, और गण के कल्याण की भी सिद्धि होगी। इन महादेवी के रूप तो अनन्त हैं।

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
चिद्रूपेण च या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।

इत्यादि। सभी जीवों में, प्राणियों में, वस्तुओं में, चिद्रूप से, चेतना के नाम से, वही वर्त्तमान है।

भारतवर्ष में वर्त्तमान काल में, गणपति के केवल एक ही गण का पति होने से कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। सभी गणों का पति होना चाहिये। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, यहूदी, जैन, बौद्ध, सिख आदि। यह कैसे हो? जब वह एकदंत हो। सब

मतभेदों का एकमत्य कर सके। यह शक्ति उसी भगवती परमा विद्या की उपासना से प्राप्त हो सकती है। जो बुद्धि, जो विद्या, सारग्राहिणी है, मूल बातों को, गम्भीर तत्त्वों को, पकड़ती है, ऊपरी कृत्रिम विशेषों में ही नहीं अटक रहती है, वह निश्चय से जानती है कि "सर्वेषु" वेदेष्वहमेव वेद्यः।" "अहम्", मैं, आत्मा, "आइ" (अंग्रेजी), "अना" (अरबी), "खुद" (=खुदा, फारसी), यही एक अजर अमर वस्तु सब मतों के सब वेदों में, सब धर्मग्रन्थों में, कही है। उसी पर चारों ओर जोर देने से लोकविग्रह घटेगा, लोकसंग्रह बढ़ेगा, एकमत्य होगा, विरोध-परिहार होगा।

देखिये, हम आप इस एक सभा-भवन में इस समय बैठे हैं। देखने को तो एक ही स्थान है। पर इस एक स्थान में इस एक क्षण में सैकड़ों लोग समन्वित हैं। रूप की दुनिया अलग ही है, पर यहाँ मौजूद है। शब्द का लोक भिन्न है, पर यहाँ है। गन्ध का संसार, स्पर्श का जगत्, "दि वर्ल्ड आफ़ ट्रेड", "दि वर्ल्ड आफ़ लिटरेचर", "दि वर्ल्ड आफ़ हिस्ट्री", सायंस का आलम, कविता का "वर्ल्ड", एक सायंस के अन्दर विशेष विशेष सैकड़ों विज्ञानों के जगत, कलाओं के लोक, आलमि इश्क, आलमि जंग, आलमि नासूत, आलमि मिसाल, आलमि मलकूत, वग़ैरा, अर्थात् भूः भुवः स्वः आदि लोक, सूर्यलोक, (दि वर्ल्ड आफ़ लैट), वरुणलोक ("वाटर") इत्यादि "प्लेन" (अंग्रेजी), "लौह" (अरबी) "अर्द" (अरबी), यह सभी इसी जगह उपस्थित हैं। जिसी का हम ध्यान करते हैं उसी में पहुँच जाते हैं। क्या बात हुई? द्रष्टा में, मैं में, आत्मा की बुद्धि में, ही इन सबका समन्वय होता है। सभी उसी में सदा वर्त्तमान हैं। आत्मा ही सब का समाहार, सबका समन्वय, करता है। और यस्मात् सनातन धर्म परमात्म धर्म है, क्योंकि सिवाय परमात्मा के और कोई वस्तु सनातन सदातन नित्य नहीं, और परमात्मा को किसी से विरोध नहीं, बल्कि वह सब में है और सब उसमें है, इसी लिये इस धर्म में सब धर्मों का देश-काल-निमित्त-अधिकार-भेदेन समन्वय हो सकता है और है। इसको किसी से विरोध नहीं। इस धर्म के सच्चे तात्त्विक सात्त्विक स्वरूप के विरुद्ध, आजकल जो इसका बर्त्ताव परस्पर विरोधमय, भेदमय, "मत छू"—मय, "छूई-मूई"—मय, होगया है, उसका मूल कारण यही है कि सात्त्विक ज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मबुद्धि, आत्मविद्या का ह्रास और रागद्वेष रजस् तमस् से ग्रास हो गया है।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित क्रियाफलमुपाश्नुते।
(मनु)

आत्मज्ञान की दृष्टि के बिना जो कोई कुछ काम करता है वह उसके अच्छे फल को नहीं पाता। क्योंकि उसको सत् लक्ष्य का ज्ञान नहीं; सत् पुरुषार्थ का ज्ञान नहीं, और इस हेतु से वह अपनी शक्तियों का सत् प्रयोग नहीं करता। तो हम लोग इस परम विद्या आत्मविद्या का बहुत आदर से संग्रह करें। सच्चे गणपति आत्मा की पूजा नहीं की, तो, कलह के चूहे सब रास्ता काट डालेंगे। आत्मा में सब देवता वर्त्तमान हैं।

विनयाधायकोऽन्येषां, विशिष्टो नायकः स्वयम्।
नायकेन विना जातस्तस्माज् ज्ञातो विनायकः॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितं।
सर्वमात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतं।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात्, आत्मा ही सबका विशिष्ट नायक है, विनयन करनेवाला है, उसका कोई नायक नहीं है, बिना किसी नायक के, किसी माता-पिता के, उत्पन्न हुआ है, स्वयंभू है, विनायक है। आत्मा ही सब देवता है। सब कुछ आत्मा में है। जो सब कुछ को आत्मा में ही देखता है वह अधर्म में मन नहीं देता। सबसे बढ़कर आत्म-ज्ञान है, सब विद्याओं में सर्व-श्रेष्ठ है। इसी से अमृत मिलता है, अमरत्व प्राप्त होता है। आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिये, आत्मा को कभी अवसन्न नहीं होने देना चाहिये। आत्मा ही आत्मा का रिपु हो सकता है, क्योंकि दूसरे किसी को शक्ति नहीं जो आत्मा की हानि कर सकै। और आत्मा ही सच्चा बंधु आत्मा का है, क्योंकि दूसरे किसी में ऐसी शक्ति नहीं जो इसकी सहायता करे।

यही बात सूफियों ने भी कही है।

लौहि महफ़ूज़स्त दर मानी दिलत।
हरचि मी ख़ाही शवद ज़ू हासिलत॥

अर्थात्,

ब्रह्मदेव की परमनिधि हृदय तुम्हारो होय।
जो कछु अभिलाषा उठै तातैं पावहु सोय॥

और भी,

आनाँ कि तलबगारि खुदाएद, खुदाएद,
हाजत बतलब नास्त, शुमाएद, शुमाएद।
चीजे कि न गर्दीद गुम अज़ बहरि चि जोयेद,
कस ग़ैरि शुमा नीस्त, कुजाएद, कुजाएद॥

अर्थात्,

ईश्वर कोजो खोजते! सुनो हमारी बात,
खोजन को नहिं काज कछु, तुम ही हो वह, तात!
कबहुँ जु खोयौ नाहि तेहि क्यों ढूँढ़त अकुलात?
तुम सिवाय जग में कछू दूजौ नाहिं दिखात॥

आपके हृदय में महा गणपति परमात्मा का सदा वास है, यदि आप यत्न करोगे तो पहिचानोगे कि आप स्वयं ही परम गणपति हो, और ऐसा पहिचानने से ही आप अपना भी और अपने समाज का भी कल्याण कर सकोगे।

निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे।
प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे॥
गणानां त्वा गणपतिं हवामहे॥

❀ ॐ ❀

टिप्पणी—

(मैंने एक स्थान पर गणपति के एक प्राचीन नाम सालकटंकट की चर्चा की है। वाल्मीकि रामायण में, तथा महाभारत में, सालकटंकट और शालकटकटा शब्द राक्षस राक्षसी के नामों में मिलते हैं। आधुनिक मंगोलियन जाति इस राक्षस-नामक महाजाति की वंश परंपरा में है। यथा मुद्राराक्षस नाटक से विदित होता है कि नंद का मंत्री राक्षस अर्थात तिब्बर्ती या चीनी था। इस प्राचीन महा-जाति का वास-स्थान, अटलांटिक महाद्वीप, जलप्रलय से समुद्र मग्न हो गया, सहस्रों वर्ष पूर्व, ऐसा कुछ वैज्ञानिकों का विचार है। संभव है कि यह नाम और रूप चीनियों तिब्बतियों के द्वारा अदल बदल कर भारतवर्ष में पहुँचा हो।)

श्री शंकर रहस्य

[ले० श्री १०८ स्वामी निरंजनानन्द तीर्थ के शिष्य श्रीमान् ब्रह्मानन्द मिश्र जी]

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥
(यजुर्वेद अध्याय १६ मंत्र ४१)

अर्थ—कल्याण स्वरूप और संसार स्वरूप रुद्र को नमस्कार है। संसार का सुख देने वाले रुद्र को नमस्कार है। सांसारिक सुख तथा मोक्ष का सुख देने वाले रुद्र को नमस्कार है। पापरहित कल्याणमय मूर्त्ति वाले रुद्र को नमस्कार है। अपने भक्तों को भी पापरहित करने वाले रुद्र को नमस्कार है ॥ ४१

अपने देश की ऐतिहासिक पुस्तकों को देखने से पता लग सकता है कि लगभग दो सहस्र वर्षों से हमारी आर्य सभ्यता का ह्रास होता चला आता है। और रही सही शेष सभ्यता पर विदेशी ही नहीं वरन् भारतीय ऋषि-सन्तान भी जो शास्त्रीय मर्मों से अनभिज्ञ हैं वे भी अपने पूर्वजों के सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ाते हैं क्योंकि प्रथम तो उनको धार्मिक सिद्धान्तों की शिक्षा ही नहीं दी गई द्वितीय कारण यह है कि वे पश्चिमीय शिक्षा से इतने पोषित हैं कि उनको ईश्वर तथा उसकी अगम्य-अगोचर-अपार शक्तियों, चरित्रों तथा स्वरूपों पर विश्वास ही नहीं हो सक्ता जब तक कि मायिक जड़ पदार्थवत् उन के सामने कोई ईश्वरीय सत्ता प्रत्यक्ष न उपस्थित की जाय और यह उपरोक्त परिचय उस समय तक असम्भव है जब तक कि इच्छुक स्वतः ईश्वरीय महिमा पर विश्वास रख कर सत्गुरु-कृपा से भक्ति, ज्ञान, ध्यान और तप के द्वारा अपने को उस योग्य न बना लें। फिर इस समय न तो पूर्व के वे महर्षि, विद्वान रहे जो हस्तामलकवत् ईश्वरीय सत्ता को प्रत्यक्ष दिखा दें और न अन्वेषण करने के लिये और धार्मिक चर्चा के लिये कहीं सत्संग ही रहा। इन्हीं कारणों से ये आधुनिक शिक्षावलम्बी भारतवासी अपने धार्मिक विचारों से उदासीन और धर्म से नास्तिक होते जा रहे हैं। पापों की ओर नर-नारियों की वृत्ति बढ़ती जा रही है। इस दुर्व्यवस्था को देख कर कुछ वर्षों से कतिपय महानुभाव और सज्जनों ने धार्मिक विचारों के तत्त्वों के अन्वेषण और प्रचार में अपना तन-मन लगाया है। आशा है कि जनता उनके विचारों को अपनाती रहेगी तथा उनके उत्साह में हाथ बटाती रहेगी और एक दिन वह आएगा कि भारतवर्ष का बच्चा बच्चा अपने धार्मिक सिद्धान्तों का कट्टर जानने वाला और माननेवाला हो जायगा।

इस लेख में मैं उस भारतीय दैवी उपासना के मर्म की ओर आप लोगों के चित्त को आकर्षित करना चाहता हूँ कि जिसका भारत के कोने कोने में तथा बच्चा बच्चा में प्रचार है और जिसकी प्राप्ति के लिये करोड़ों नर-नारी बाल-वृद्ध अपना तन-मन-धन निछावर करने को संनद्ध हैं और जिस उपासना और दैवी विग्रह की अनजान जनता हँसी उड़ाती है वह उपासना श्री शंकर भगवान् की है।

निर्गुण सगुण की विवेचना।

शास्त्रकारों का कथन है कि "यः पिंडे सः ब्रह्माण्डे" ईश्वर की सत्ता जैसी ब्रह्मांड में व्याप्त है वैसे ही शरीर में है। संसार के यावत् पदार्थ हैं वे स्थूल-सूक्ष्म

कारण रूप में हैं। प्रत्येक पदार्थ में तीनों का समावेश है। उदाहरण रूप में देखा जाता है कि एक सूक्ष्म वट बीज में स्थूल वट वृक्ष की सत्ता है तथा स्थूल वट वृक्ष में सूक्ष्म वट बीज है। और उसी बट बीज में कारण अदृश्य—ईश्वरीय सत्ता भी व्याप्त है। बीज के दूषित होजाने पर बट-वृक्ष का उद्भव होना असम्भव है। इसी को आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप भी कहते हैं। इसी आधार पर हमारे यहां योगियों, मुनियों ने ईश्वर के स्वरूपों का लक्ष्य किया है। शास्त्रों में पंचदेवों की उपासना को पंचभूतों (पृथ्वी-जल--वायु-अग्नि और आकाश) के आधार पर माना है। प्रत्येक भूत का अधिपति अथवा कारण स्वरूप उन के गुणों के अनुसार ही उन के ध्यान में आया था। पृथ्वी तत्त्व की अधिष्ठात्री देवी है, जल के अधिष्ठाता विष्णु, अग्नि के सूर्य, वायु के गणेश और आकाश के शंकर हैं। शंकर के नाम रुद्र-महादेव-शम्भू आदि हैं, अथवा यों कहा जा सकता है कि वही एक परमात्मा इन पाँच तत्त्वों में कारण रूप से तत्त्वों के गुण-कर्मानुरूप पंच नामों से उपस्थित है। उसी एक परमात्मा की अनन्त शक्तियों और अनन्त गुणों में से कुछ शक्ति और गुण पृथक २ भूतों में पृथक २ नाम और गुण रूप से प्रकट हो रहे हैं। जैसे कि एक लालटेन की ज्योति अनेक रंगों वाले शीशा में पड़ कर अनेक नाम, गुण, रूप को धारण कर लेती है। एको देवः सर्वभूतेषु वासः।

अब देखना है कि आकाशत्व और महेश्वर (शंकर) में गुण कर्म और साकारता का क्या२ सन्बंध है। श्रुति कहती है खं ब्रह्म अर्थात ब्रह्म को व्यापकता आकाशवत् कथन की गई है। श्वेताश्वोपनिषद् (४। १४) का वाक्य है। "सूक्ष्माति सूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टामनेकरूपम्॥ विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्त्यमेति ॥१॥

शंकर रहस्य

आकाश तत्त्व से ही सब तत्त्व क्रमशः निकले हैं और सब तत्त्वों का उसी में समावेश है। अतः आकाश तत्त्व भूतनाथ कहाता है। आकाश का कोई विशेष वर्ण (रंग) नहीं है। वह स्वेत स्फटिकवत् कहा गया है। इस लिये शंकर का भी स्वरूप कर्पूर गौर वर्ण किया गया है। वह सब भूत प्राणियों के अन्तरात्मा होने से भूतनाथ कहाते हैं-आकाश में वायु जो फैली है वही शंकर की जटा है। सब भूत आकाश में लय हो जाते हैं जो कि भूतों का स्मशान है इसी लिये शंकर स्मशान—वासी कहलाते हैं। प्राणियों की अंतिम दाह-क्रिया हो जाने पर पंचतत्त्वों का सारभूत वही भस्म रह जाती है। उसी को शंकर जी के शरीर में लेपन कहा है जो कि सृष्टि संहारक रुद्र-शक्ति के कार्य का अवशेष चिन्ह है। उस भस्म का आधार आकाश है। सर्प काल (मृत्यु) रूप माना गया है जिसके द्वारा प्राणियों का संहार होता है। अतः रुद्र का भूषण सर्प होना आवश्यकीय है। दूसरे सर्प रूपी काल के ईश शंकर हैं काल को अपने योग द्वारा शंकर ने अपने वश कर रक्खा है क्योंकि योगी में ही यह सामर्थ्य है कि काल को अति-क्रम करके दीर्घायु होजाते हैं। शंकर जी की महायोगियों में गणना है। शंकरजी के मस्तक में जो त्रिनेत्र हैं वही आकाश में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तीनों स्थित हैं। अग्नि को तीसरा नेत्र शिवजी का कहा है। जिसपर क्रोध करते हैं उसको इसी द्वारा भस्म कर देते हैं। काम-दहन का इतिहास पुराणों में आया है।

"तब शिव तीसर नयन उघारा।

चितवत काम भयो जरि छारा ॥"

(रामायण)

साधारण दशा में जब कोई किसी पर क्रोध करता है तब उसका मुख मण्डल और नेत्र रक्त-वर्ण हो जाते हैं जो कि अग्नि प्रकाश का द्योतक है।

त्रिशूल—आकाश में वायु, अग्नि, जल तीनों का वास है जो कि प्राणियों के शरीर में वात-पित्त-कफ के नाम से व्याप्त हैं। जब तक प्रभु शंकर की कृपा है तबतक जीव के स्वास्थ्य का कल्याण है और जब उन की संहारकर्तृ शक्ति ने कोप किया तीनों वात-पित-कफ (जल-वायु-अग्नि) विगड़े और संसार-संहार का कार्य होने लगा। वैद्यक में इन्हीं के विगाड़ को त्रिदोष कहा गया है और शंकर का त्रिशूल भी इसी की संज्ञा है। यही दैहिक-दैविक-भौतिक तापों के नाम से भी प्रख्यात हैं।

डमरू—आकाश का गुण शब्द है और शब्द से वर्णमाला के अक्षर मंत्र आदि की उत्पत्ति है। वह अनहद शब्द उभय श्रवणों द्वारा योग-क्रिया से सुना जाता है जो कि शंकर के हाथ में है। पाणिन जी ने व्याकरण में कहा है "हयवरल" इत्यादि। ये सूत्र शंकर के डमरू से निकले हैं। तंत्रशास्त्र के वेत्ता जानते हैं कि तंत्र मंत्र आदि के रचयिता आदि से शंकर जी ही हैं।

प्रमाण—कलि विलोकि जग हित हर-गिरजा।
शावर मंत्रजाल जिन सिरजा॥

विष—शंकर जी के कंठ में नीले रंग का विष है। तमोगुणोत्पादक मादक विषैली वस्तुओं के विष को शमन कर के सेवन करने की सामर्थ्य योगी पुरुष का ही है। आकाश में वायु और जल के संसर्ग में अनेकों विषैले परमाणु अथवा कीट व्याप्त रहते हैं जोकि प्राणघातक हैं परन्तु योगीन्द्र शंकर जी के कंठ (अधर आकाश) में रहते हुये भी वे उन को हानि नहीं पहुँचा सकते।

वृषभ वाहन॥ पुराणों में धर्म को वृषभ रूप से कथन किया है जो कि शंकर जी का वाहन है क्योंकि जहाँ धर्म (वृषभ) है वहीं शंकर (कल्याण) का कर्त्ता परमात्मा है—भारत वर्ष में वृषभ को ही यज्ञादि का साधन अन्नोत्पादक-भारवाहक माना है। गाय का प्रत्येक अंग देवस्वरूप-दूध--घी-दही मूत्र-गोबर आदि यज्ञ के अंग बताये गये हैं। प्रमाण के लिये श्रीमद्भागवत के दशम्-स्कंध का, राजा परीक्षित और कलियुग का, सम्वाद पर्याप्त है।

पार्वती—हिमालय पहाड़ की पुत्री और शंकर जी की अर्द्धांगिनी हैं। प्रकृति और पहाड़ की जड़ संज्ञा मानी गई है। सत्त्वगुणी प्रकृति हिमवत् स्वेतवर्ण और जड़ है। तिस की कन्या पार्वती आदिप्रकृति जगदम्बा है। वह शङ्कर की अर्धांगिनी है। तात्पर्य यह कि प्रकृति और ब्रह्म (गौरीशंकर) अर्द्ध नर-नारी के स्वरूप में आकाशवत् सब में व्याप्त हैं। दोनों अभिन्न दशा में हैं। वही दशा है जिसको कि एक कवि ने कहा है कि:—

नारी बीच सारी है कि सारी बीच नारी है।
कि नारी ही की सारी है कि सारी ही की नारी है।

दिगम्बर—परमात्मा शंकर आकाशवत् सर्वव्यापक हैं तो उनके अवरोध के लिये कोई पट (वस्त्र) परदा नहीं हो सकता। सर्व देशों और दिशाओं में व्याप्त होते हुये वे दिगम्बर कहे जाते हैं।

जटायें—आकाश में लतायें फैलती हैं वही शंकर की जटायें है। श्रीमद्भागवत में विराट ब्रह्म की साकारता वर्णन करते हुये वृक्षों और लताओं को ब्रह्म के केश माना है।

पंचमुख—पंचप्राण(प्राण, अपान, व्यान, उदान समान) ये ही शिव के मुख हैं।

मुंडमाल—संहार-कर्त्ता शिव सम्पूर्ण प्राणियों को मारकर अवशेष भाग मुंड प्रत्येक प्राणी का अपने वक्षस्थल में धारण कर सूचना देते हैं कि एक अविनाशी अजन्मा मैं ही शिव हूँ और सब मर कर मेरे हृदय में लीन हो जाते हैं।

कैलाश-काशी—शरीर में त्रिकुटी को कैलाश और सारे शरीर को काशी माना गया है जिसमें आत्मा का मुख्य वासस्थान है। श्रुति कहती है कि "अयमात्मा ब्रह्म।"

इसी शरीर में बुद्धि को जो जड़ है किन्तु जो आत्मा के चिदाभास से चैतन्य जान पड़ती है, पार्वती माना है।

"आत्मात्वं गिरजामतिसहचराः प्राणशरीरग्रहं।"
(शिव मानस पूजा स्त्रोत्र)

यह आत्मा एक अंगुष्ठ प्रमाण ज्योतिरूप प्रत्येक प्राणी के हृदयागार में स्थित है। वही शिव-पिंडी—श्रुति में आया है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा हिरण्यगर्भस्वरूप जल में प्रादुर्भूत हुआ।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
स दाधारपृथिवीन्द्यामुतेमाङ्क
स्मैदेवाय हविषा विधेम ॥१॥

हृदय अष्टदलकमलवत् है जिस में अंगुष्ठ-प्रमाण आत्मा स्थित है। यही भग (ऐश्वर्य स्थान) और लिंग (ब्रह्मद्योतक ज्योतिर्चिन्ह) है। जहां शिव का वास होता है वहीं ऐश्वर्य रहेगा। शरीर ही काशी है।

रामायण में तुलसीदास ने लिखा हैः—

मुक्तिजन्म महि जान,
ज्ञानखानि अघहानिकर।
जहँ वस शंभु भवानि,
सो काशी सेइय कस न॥

"नरोनारायणः साक्षात कैवल्यं पद शास्वतम्।"

जब किसी सन्यासी का अंतःकरण निर्मल हो जाता है तब उस में स्वतः उस की आत्मा शिव-स्वरूप भासने लगती है। तब वह हृदयतंत्री से स्वतः बोल उठता हैः—

"शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं।"

गणेश जी—वायु—तत्वप्रधान-प्राणियों का जीवन-आधार है। इसी से गण अर्थात् जीव समूह के ईश गणेश जी हैं। पृथ्वी-पार्वती देवी शंकर-आकाश, ब्रह्म दोनों के मध्य वायु रूप गणेश पालित, लालित और सर्वदेवों से प्रथम पूज्य हैं क्योंकि यदि प्राणदेवता न रहें तो इन्द्रिय के अधिप सर्व देव कूच कर जायँ और शरीर का सारा खेल ही नष्ट हो जाय।

षडानन—षट सम्पत्ति-शम-दम-उपराम-तितिक्षा-श्रद्धा-समादान हैं। इन के द्वारा तारकासुर अर्थात् सांसारिक मोह मारा जा सकता है।

गंगा जी—योगी महात्मा निज मस्तक के सहस्रदल कमल-चक्र से उस अमृत समान रस को योग द्वारा तालू में जिह्वा को लगा कर पान करते हैं जिस से वे अजर अमर हो जाते हैं। वह धारा नाड़ियों द्वारा सर्व शरीर में प्रवाहित है। तीनों लोक आकाश-पाताल-मृत्युलोक योगियों को प्राप्त है।

यह न समझना चाहिये कि कवियों की अलंकारिक भाषा में यह उक्तियां हैं और गल्प हैं जो इस प्रकार शंकर का विलक्षण स्वरूप बतलाया गया है। यह सम्पूर्ण उपरोक्त शंकर का स्वरूप प्रत्येक नर-नारी के शरीर में विद्यमान है जिसको योगी, यती आत्मवेत्ता सूक्ष्म दर्शी देखते हैं। और ये ही शक्तियाँ ब्रह्म की सत्ता कहलाती हैं। जब आत्मा के सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणों की साम्यावस्था अर्थात् तुरीय दशा प्राप्त हो जाती है तब उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए वही आत्मा शंकर बन जाती है। यही शंकर का आध्यात्मिक रहस्य है। इसी शरीर में सूर्य, चंद्र, अग्नि, पर्वत, जल-थल, आकाश इत्यादि की सारी शक्तियाँ परिपूर्ण हैं।

आधिभौतिक, आधिदैविक, दशा में भी यही शंकर का स्वरूप रहता है जिस समय विशेष सृष्टि-संचालन और संहार आदि का कार्य आ जाता है उस समय शंकर परमात्मा पंचभौतिक शरीर भी धारण कर लेते हैं। इसी से उनको स्वयंभू कहते हैं। पुराणों में जो एकादश रुद्र की तथा शंकर की कथायें वर्णित हैं वह समय समय पर उनके साक्षात् प्रकट होने की और विग्रह की लीलायें हैं। कलियुग में आदि शंकराचार्य भी इन्हीं शंकर के अवतार थे जिन्हों ने बौद्धों के मायावाद का खंडन कर ब्रह्मवाद और सनातन धर्म का पुनरोद्धार किया था। आधिदैविक-तो नित्य अनन्त सर्व देशीय सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार से सर्व मय है।

शंकर की प्रधानता का कारण—जैसे पञ्चतत्त्वों में आकाश तत्त्व प्रधान निर्लेप निर्विकार निरञ्जन हैं वैसे ही देवताओं में शंकर जी हैं। इसी से इनको महेश्वर-महादेव कहते हैं। पुरुषार्थ के चारों फलों में मोक्ष प्रधान है, इसलिये मोक्ष-प्राप्ति के लिये शंकर जी की उपासना करते हुये सन्यास धर्म को ग्रहण करते हुये सदा शंकर के गुण कर्मों को, जोकि योगियों को मान्य हैं, उन का चिंतवन और निदिध्यासन करते रहना चाहिये।

सन्यास का तात्पर्य "सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्" है। इस का तात्पर्य केवल शिखा-सूत्र-रहित दंड-कमंडल लेकर सन्यासी का रूप बना लेना ही नहीं है।

भ्रमनिवारण—यह भ्रम न करना चाहिये कि अन्य देव-देवी-सूर्य-विष्णु-गणेश-राम--कृष्ण आदि प्रधान मोक्ष दाता नहीं हैं। ऐसा विचार करना महा घोर पातक है जिससे कभी प्राणी उऋण नहीं हो सक्ता। सभी देवता एक ब्रह्म की शक्तियों के समान दर्शक हैं। जिस पुरुष में जो तत्त्व प्रधान होगा उसकी रुचि उसी देवता (तत्त्वाधीश) पर जायगी। उसी की उपासना उस भक्त को परम गति देगी। क्योंकि प्रत्येक तत्त्वों में एक प्रधान होता है और शेष चार निज निज अंशों सहित उस से सम्मिलित रहते हैं और चारों तत्त्वों के देवता उस प्रधान तत्त्व के देवता के सहायक रूप

से साथ साथ रहते हैं। प्रधान देवता को वह शेष देवता भी प्रधान पूज्य ही मानते हैं। कोई विषम-भाव नहीं रहता। इसलिये प्रत्येक भक्त का परम कर्त्तव्य है कि किसी की निन्दा न करे। "सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति" का भाव रक्खे। रामायण आदि देखने से स्पष्ट हो जाता है कि राम–कृष्ण ने शिव की प्रार्थना और स्थापना की तथा शिव ने समय समय पर आ कर राम–कृष्ण की स्तुति की।

मन्दिर संस्कार—हमारे सुविज्ञ चतुर आचार्यों ने मन्दिरों में इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर एक प्रधान देवता को मध्य में शेष को उन के अंग-स्वरूप कर के चारों ओर स्थापित करवाया है। जब हमारे शरीर का कार्य, विना पांचों तत्त्वों के नहीं चल सकता तो भला विना पंच देवताओं के हमारा कल्याण–साधन कैसे हो सकता है। यही स्मार्त धर्म प्रतिष्ठित पंचदेवोपासना का रहस्य है।

साधन पथ—विना त्रिपुरासुर स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरांतर मोहको विजय किये अथवा मन रूपी जालन्धर का वध किये शंकर पद जिसको सायुज्य मुक्ति कहते हैं उसे पाना अति दुर्लभ है। प्रकृति-ब्रह्म (गौरीशङ्कर) की उपासना निष्काम भाव से विना किये कोई शङ्कर का भक्त नहीं कहा सक्ता, जबकि संसार ही गौरीशङ्कर हो रहा है। यह भाव उपासक के हृदय में भास जायगा तब वह स्वयं बाहर भीतर के विकारों से शुद्ध हो अपना तथा संसार का कल्याण करनेवाला शंकर स्वरूप हो जायगा। यदि फिर कभी शंकर की लहर होगई तो प्रकृति ब्रह्म की साथ साथ उपासना, विष्णु आदि की उपासना और उनके आध्यात्मिक आदि स्वरूपों का भाव लिखा जायगा।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।
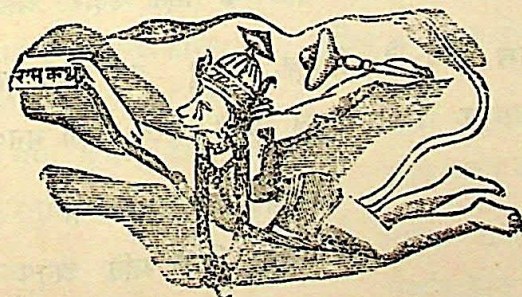
शिव

[रचयिता—कालीचरण विशारद]

मन ! शिव, शिव, शिव, शिवेति नाम नित्य ले रे ।
शिव के शुभ चरित बीच निशिदिन चित दे रे ॥ मन० ॥

शोभित रुद्राक्ष माल, आसन मृगराज छाल,
गोद में गणेश बाल बैठे जिनके रे ॥ मन० ॥

भूषण हैं सफण व्याल जिनके अतिशय कराल,
बालचन्द्र पूर्ण भाल शोभित जिनके रे ॥ मन० ॥

हिमपति दुहिता समेत, हर्ष के हिलोर लेत,
वनता नन्दन निकेत मरघट जिनसे रे ॥ मन० ॥

स्वेत भस्म पूर्ण अंग, सिर पर अति विमल गंग,
लज्जित कर्पूर रंग अन्य आज हेरे ॥ मन० ॥

कर में डमरू मृदंग, भूत प्रेत आदि संग,
भीषण विष और भंग भोजन इनके रे ॥ मन० ॥

विराट बैल पर सवार, क्रोध, प्रेम हृदय धार,
भक्तों के हित उदार अति ही बनते रे ॥ मन० ॥

अस्त्र मध्य है त्रिशूल, साधु हेतु भक्त मूल,
नाशकर निहार शूल पापी डरते रे ॥ मन० ॥

निर्विकार बोधरूप, सुन्दर सच्चिद स्वरूप,
वर्णन बिन अति अनूप ज्ञान के बसेरे ॥ मन० ॥

शरभावतार

(ले०—श्री गौरीशंकर गनेड़ीवाला)

हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद हुआ। वह बड़ा तपस्वी, सत्यवादी, धर्मज्ञ और महात्मा था तथा बाल्यावस्था से ही पुराण-पुरुष भगवान् श्री विष्णु जी की पूजा में तत्पर रहा। उस प्रहलाद की यह अपने से विपरीत चेष्टा देख अति क्रोध कर एक दिन हिरण्यकशिपु कहने लगा—रे कुपुत्र प्रह्लाद ! मेरे प्रताप के आगे कौन नारायण है ? इन्द्र, वरुण, कुबेर, वायु, सोम, ईशान, अग्नि, यम और ब्रह्मादि देवता सभी मुझ से डरते हैं। तू जीने की इच्छा रखता हो तो मेरी आज्ञा का पालन कर। पिता का कठोर बचन सुन कर भी प्रह्लाद ने विष्णु-भक्ति का त्याग न किया। 'ओं नमो नारायणाय' यही मंत्र उच्चारण करता रहा और सब दैत्यों के बालकों को भी भगवत्भक्ति का उपदेश देता रहा। तब तो हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को अनेक यातना दीं; परन्तु भगवान के प्रताप से उस का बाल भी बाँका न हो सका। भक्त का कष्ट न सह कर प्रह्लाद की रक्षा व हिरण्यकशिपु का संहार करने के लिये विष्णु भगवान नृसिंह-रूप धार, प्रगट हो, हिरण्यकशिपु का उदर विदार कर गर्जने लगे। उन के घोर शब्द से ब्रह्मलोक पर्यंत काँप उठे। यम, कुबेर, इन्द्र और ब्रह्मादि सब नृसिंह जी की स्तुति करने लगे।

अनेक स्तुति करने पर भी जब नृसिंह जी शान्त न हुये तब देवता अपनी रक्षा के लिये मन्दराचल में शिव जी की शरण गये। वहाँ पार्वती जी के संग विराजमान, शिव-गण-गन्धर्व-विद्याधर आदि कर के सेवित श्री महादेव जी के आगे सब नृसिंह जी की चेष्टा वर्णन करने लगे और दण्डवत् प्रणाम कर के सब देवताओं के सहित ब्रह्मा जी हाथ जोड़ कर गद्‌गद् वाणी से स्तुति करने लगे:—

नमस्ते काल-कालाय नमस्ते रुद्रमन्यवे।
नमः शिवाय रुद्राय शंकराय शिवाय ते ॥ १॥

उग्रोऽसि सर्वभूतानां नियन्तासि शिवोऽसि नः।
नमः शिवाय शर्वाय शंकरायार्तिहारिणे ॥ २ ॥

इस भाँति देवताओं के दीन वचन सुन, शिव जी ने उन को अभय दिया और हँस कर कहा कि तुम प्रसन्न रहो, मैं तुम्हारा कार्य करूँगा।

भगवान शिव जी ने तेजोरूप पक्षी का रूप धारण किया जिन के सहस्र भुजा, मस्तक पर चन्द्रमा शोभित, आधा शरीर मृग का और आधा पक्षी का, बड़े बड़े पंख, तीखी चोंच, वज्र के तुल्य नख, अति तीक्ष्ण दाढ़, नील कंठ, प्रबल अग्नि के समान देदीप्यमान देह, तीन नेत्र थे। उन को प्रलय के मेघ के समान गम्भीर शब्द करते हुये देख कर नृसिंह जी शान्त हो स्तुति करने लगे।

नमो रुद्राय शर्वाय महाग्रसाय विष्णवे।
नमो उग्राय भीमाय नमः क्रोधायमन्यवे ॥१॥

नमो भवाय शर्वाय शङ्कराय शिवाय ते।
कालकालाय कालाय महाकालाय मृत्यवे ॥२॥

वीराय वीरभद्राय क्षयद्वीराय शूलिने।
महादेवाय महते पशूनां पतये नमः ॥३॥

एकाय नीलकण्ठाय श्रीकण्ठाय पिनाकिने।
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय नमस्ते मृत्युमन्यवे॥४॥

पराय परमेशाय परात्परतराय ते।
परात्पराय विश्वाय नमस्ते विश्वमूर्त्तये॥५॥

नमो विष्णुकलत्राय विष्णुक्षेत्राय भानवे।
कैवर्त्ताय किराताय महाव्याधाय शाश्वते॥६॥

भैरवाय शरण्याय महाभैरवरूपिणे।
नमो नृसिंहसंहर्त्रे काम काल पुरारये॥७॥

महापापौघसंहर्त्रे विष्णुमायांतकारिणे।
त्रयम्बकाय त्र्यक्षराय शिपिविष्टाय मीढुषे॥८॥

मृत्युंजयाय शर्वाय सर्वज्ञाय मखारये।
मखेशाय वरेण्याय नमस्ते वह्निरूपिणे॥९॥

महाघ्राणाय जिह्वाय प्राणापानप्रवर्तिने।
नमश्चन्द्राग्निसूर्याय मुक्तिवैचित्र्यहेतवे॥१०॥

वरदायावताराय सर्वकारणहेतवे।
कपालिने करालाय पतये पराय कीर्त्तये॥११॥

अमोघायाग्निनेत्राय कुलीशाय शंभवे।
भिषक्तमाय मुण्डाय दण्डिने योगरूपिणे॥१२॥

मेघवाहाय देवाय पार्वतीपतये नमः।
अव्यक्ताय विशोकाय स्थिराय स्थिरधन्विने॥१३॥

स्थाणवे कृत्तिवासाय नमः पंचार्थहेतवे।
वरदायैकपादाय नमश्चन्द्रार्द्धमौलिने॥१४॥

नमस्तेऽध्वरराजाय वयसांपतये नमः।
योगीश्वराय नित्याय सत्याय परमेष्ठिने॥१५॥

सर्वात्मने नमस्तुभ्यं नमः सर्वेश्वराय ते।
राकाद्वित्रिचतुष्पंचकृत्वस्तेस्तु नमोनमः॥१६॥

दशकृत्वस्तु साहस्रकृत्वस्ते च नमोनमः।
नमो नमो नमो भूयः पुनर्भूयो नमोनमः॥१७॥

(लिं० पु० ९६ अ०)

इस तरह स्तुति कर देवताओं के देखते देखते अपनी चर्म (बाघम्बर) शिव जी के निमित्त अर्पण कर नृसिंह जी अंतर्धान हो गये और देवता भगवान् का स्मरण करते करते अपने अपने स्थान को चले गये। जो नृसिंह जी का स्तोत्र पढ़ता अथवा सुनता है वह शिव-लोक में जा कर शिव जी का गण होता है:—

यः पठेच्छृणुयाद्वापि स्तवं सर्वं मनुत्तमम्।
स रुद्रत्वं समासाद्य रुद्रस्यानुचरो भवेत्॥

(लिं० पु० ९६ अ०)

(शिव भक्त माल)

(इस कथा के सम्बन्ध का चित्र हम इस अंक में दे रहे हैं—सं० पु०)।

प्रश्नोत्तरमाला

[ले०—श्री मांगीलाल शर्मा, जयपुर]

प्र०१—जीवशरीर में ईश्वरशरीर में और इतर लोष्टादि में क्या साम्य है ?

उ०—इन तीनों में प्रत्येक की आत्मा 'पञ्चकल' है, यही तीनों में साम्य है।

प्र० २—प्राण किसे कहते हैं ?

उ०—रस का अनुग्रहीता मृत्यु प्राण है।

प्र०३—कर्म की कौन तीन भक्तियां हैं ?

उ०—संकल्प, विसर्ग और आवरण।

प्र० ४—ज्ञान की कौन तीन भक्तियाँ है ?

उ०—उपलब्धि, विज्ञान और आनन्द।

प्र० ५—ज्ञानात्मा का कौन प्रभव है ?

उ०—रस ज्ञानात्मा का प्रभव है।

प्र० ६—कर्मात्मा का कौन प्रभव है ?

उ०—बल कर्मात्मा का प्रभव है।

प्र० ७—'ब्रह्म' यह नाम किस हेतु से है ?

उ०—ब्रह्म स्वभाव बृंहण है यह हेतु।

प्र० ८—बृंहण प्रकार कहो ?

उ०—अमृतरूप से बृंहण, मृत्युरूप से बृंहण।

प्र० ९—अध्यात्मग्रामों के नाम बताओ ?

उ०—आत्मग्राम, देवग्राम, भूतग्राम।

प्र० १०—धर्म प्रकार कहो ?

उ०—अधिकार धर्म, लोक धर्म, क्षात्र धर्म, आत्म धर्म—ये चार प्रकार हैं।

प्र० ११—अधिकार धर्म के कितने भेद हैं ?

उ०—अधिकार धर्म द्विविध-जन्मसिद्ध अधिकार और संस्कार सिद्ध अधिकार।

———

शिवाष्टकम्

[ले०—श्री साहित्येन्द्र उदितनारायण स्वामीजी, चित्रकूट]

(१)

अखिल-विश्वपतिं गिरजापतिं, सकल—निर्जर-वृन्द-निसेवितं।
भव-भयार्ति-हरं खर-खण्डनं, निज-जनार्तिहरं सततं भजे॥

(२)

अजमनादिमनामयमव्ययं, मदनमदनमीशमुमापतिम्।
मतिदमच्युतमर्चितमानसैर्मलहरं मुदितं सततंभजे॥

(३)

शरणदं शरणागतवत्सलं, शुभमयं शुभदं शशि-शेखरं।
सकल-वैरि-समूह-विदारणं, सित-तनुं सुखदं सततं भजे॥

(४)

त्रिनयनं त्रिगुणं त्रिदशाधिपं, त्रिविध तापहरं त्रिपुरारिकम्।
त्रिभुवनैकप्रभुं त्रिजगद्धृतं, त्रिगुण-रूप-धरं सततं भजे॥

(५)

कलिहरं कलि-कल्मष-नाशनं, कठिन-क्लेश-हरं करुणा-करम्।
कर-त्रिशूल-धरं च कपर्दिनं, कलित-शृंगधरं सततं भजे॥

(६)

विभवदं भजतां-भय-भंजनं, विवुध-बंधु-परं विवुध-प्रियम्।
विवुध-वृन्द-वरं विवुधाधिपं, विवुध-शत्रुहनं सततं भजे॥

(७)

पशुपतिं पुरुषं परमेश्वरं, पतित-पावन पावन-पावनम्।
प्रणतपं प्रणपं परमायनं, परतराच्चपरं परमं भजे॥

(८)

शिवतमं शिवदं च शिवापतिम्, शिवमयं शिव-लोक-निवासिनम्।
शिव-करञ्च शिवञ्च सिताधरं, शिवतराच्चशिवं सततं भजे॥

श्रीशिवजी तथा तत्पूजनांगभूत

भस्म और रुद्राक्ष

(ले०—श्री छेदी झा शास्त्री जी, प्रिंसपल, श्री जयदेव वैष्णव संस्कृत कालेज, कर्वी, चित्रकूट ।)

नतोऽस्म्यहं देवमनादिमव्ययम् ।
प्रधानमव्यक्तगुणं महान्तम् ॥
अकारणं कारणकारणं परम् ।
शिवश्चिदानन्दमयं प्रशान्तम् ॥

संसार में परमात्मा की माया सदैव जीवों को किसी न किसी रूप में भटकाया करती है तथा परमात्मा के उस आनन्दमय शरण से अलग कराने की चेष्टा किया करती है । किन्तु इस माया को जीव पार तब ही कर सकता है जब भक्तवत्सल जगदीश की कृपा हो जाती है अन्यथा कोई दूसरा मार्ग नहीं ।

आज मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यह समझाना चाहता हूँ कि वस्तुतः तत्त्व एक ही है और वह अभिन्न है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश में केवल नाम-मात्र का भेद है । आप वेदउपनिषदादिकों को विचारपूर्वक देखें, कहीं भी इन तीनों में भिन्नता नहीं पावेंगे । यद्यपि अधिक प्रमाण दिये जा सकते हैं किन्तु लेख बढ़ जाने के कारण पुराणों में से कुछ ही अवतरण दिये जाते हैं ।

श्रीमद्भागवत में एक आख्यायिका है—जिस समय सृष्टि-विस्तार की चेष्टा की जा रही थी, श्री ब्रह्मा जी ने जगत्-प्रसिद्ध श्री अनुसूया-पति श्री अत्रि ऋषि जी को भी सन्तानोत्पादनार्थ प्रेरित किया । ऋषि ने आज्ञा पा कर अपनी स्त्री को साथ लिया और दोनों ऋक्ष नाम के कुलाद्रि पर्वत पर गये जहाँ निर्विन्ध्या नाम की नदी पहाड़ों को तोड़ती हुई तथा गंभीर-नादयुत वेग से बह रही थी, तथा जहाँ अशोकादि वृक्ष पुष्प और स्तवकों से लदे हुये थे । वहाँ जा कर दोनों ध्यान-मग्न हो गये ।

"प्राणायामेन संयम्य मनो वर्ष शतम्मुनिः ।
अतिष्ठदेक पादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः ॥
शरणं तं प्रपद्येऽहं य एको जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यम् प्रयच्छत्विति चिन्तयन्" ॥

तदुपरांत जब श्री अत्रि महाराज की उग्र तपस्या से संसार दग्ध होने लगा तब वे तीनों देव, जो अभिन्नरूप में सब के स्वामी हैं, पधारे । ऋषि की आँखें खुलीं तो सामने वृष, हंस, गरुण पर सवार मूर्त्तित्रय दिखायी दीं । ऋषि बोल उठेः-

"विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-,
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः ।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं,
वस्तेभ्यः क एव भवताम्मयैहोपहूतः ॥
एको मयेह भगवान्विविध प्रधानै-,
श्चितीकृतः प्रजननाय कथन्नु यूयम् ।

अन्नागतास्तनुभृताम्मनसोऽपिदूरा,

ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे।

अर्थात् हे ब्रह्मन्! हे विष्णो! हे शिव! आप लोग युग-युग में सत्वादि गुणों के द्वारा विभिन्न शरीर धारण करनेवाले हैं। आप लोगों को मैं प्रणाम करता हूँ तथा पूछता हूँ कि मैं ने आप लोगों में से एक ही को बुलाया था। आप लोग जोकि ध्यान में आने को कठिन हैं, किस प्रकार तीनों आ गये। इस बात को अवश्य समझाइये, कारण कि मुझे इस से बड़ा भारी विस्मय हो गया है। क्या उत्तर मिलता है सो सुनिये:—

"यथा कृतस्ते संकल्पो,भाव्यं तेनैव नान्यथा,
सत्संकल्पस्य ते ब्रह्मन्, यद्वै ध्यायति ते वयम्।"

अर्थात् हे ऋषे! जैसा संकल्प किया जाता है वैसा ही फल होता है, विपरीत नहीं। हे ब्रह्मन्! जिस तत्त्व का ध्यान किया है वह तत्त्व हम लोग हैं।

सारांश यह है कि त्रिदेव एक ही हैं, उन में कोई भेद नहीं। लौकिक दृष्टांत लीजिये। जब आँख की कनीनिका को कोई दबाता है तो एक ही वस्तु दो दीख पड़ती है। यथार्थ में वस्तु एक ही है, किन्तु चक्षु में विकार है। वैसे ही उस परम तत्त्व में भिन्नता नहीं है केवल मन में विकार मायावश हो गया है, इसी से भिन्नता जान पड़ती है। जैसे कि सूर्य एक ही रहते हैं और जल से भरे घड़ों में आश्रय-वश भिन्न मालूम पड़ते हैं। वैसे ही तीनों देव एक ही हैं केवल उन के रूप भिन्न हैं। किसी साधक ने ठीक ही कहा है कि:—

"हरिहरयोर्नहि भेदः, प्रत्यय-भेदात्त भिन्नता भाति।"

अर्थात् केवल विश्वास में भिन्नता होने से हरि और हर में भी भिन्नता मालूम पड़ती है अथवा प्रत्यय में भिन्नता है प्रकृति "ह" में नहीं।

तुलसीदास जी महाराज श्रीराम जी के परम उपासक थे। श्रीराम जी मर्यादा पुरुषोत्तम परमात्मा के अवतार थे। इस में ज़रा भी सन्देह नहीं। साथ ही श्री तुलसीदास जी अनेक शास्त्रों के वेत्ता थे। उन्हें श्रीराम जी का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था, यह बात सब को विदित है। उन्हों ने रामचरित मानस (रामायण) में स्पष्ट श्री शिव और श्री राम जी में सेव्य सेवक, सखा सख्य, आदि भावों को दिखाया है। अतएव हम लोगों को निर्विवाद यह मान लेना चाहिये कि जब तक हम में अज्ञान है, दृढ़ भक्ति नहीं है, तब ही तक इन में भी भिन्नता है। पर दर्शन के पश्चात् कुछ भेद नहीं रह जाता है। स्कंद पुराण, काशी खण्ड अध्याय ११ में लिखा है कि:—

"एकं ब्रह्मैवा द्वितीयं समस्तं,
सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किंचित्।
एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे,
तस्मादेकं त्वां प्रपद्ये महेशम्।
नो वेदस्त्वामीश साक्षाद्विवेद,
नोवा विष्णुर्नो विधाताऽखिलस्य।
नो योगीन्द्रो नेन्द्रमुख्याश्च देवा,
भक्तो वेद त्वाममतस्त्वां प्रपद्ये"।

अर्थात् इस रहस्य को और कोई भी समझ नहीं सकता है। केवल जब भक्ति होती है तो यह बात समझ में आ जाती है, शेष अर्थ स्पष्ट ही है।

भार्गव जी भी कहते हैं कि:—

"आत्म स्वरूप ! तव रूप परम्पराभि–,
राभिस्ततं हर चराचर रूपमेतत्।
सर्वान्तरात्मनिलय ! प्रतिरूपरूप !
नित्यन्नतोऽस्मि परमात्मनोऽष्टमूर्त्ते !"

अर्थात् हे आत्मस्वरूप शिव ! यह चराचर जगत् तेरे से ही व्याप्त है। अतएव मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार एक देव की भक्ति, अभिन्न रूपेण तीनों की भक्ति कही जा सकती है। एक की भक्ति और दूसरे की निन्दा तो पापमयी हो-कर नरक को ले जाती है। अतएव तीनों में अ–भिन्नता बुद्धि रखना परमकल्याणजनक है।

अगर एक ही अन्न के तथा समभाग शक्कर से मिष्टान्न विभिन्न आकार में बनाया जाय, तो क्या स्वाद में भी विभिन्नता होगी ? नहीं, कभी नहीं ठीक ऐसे ही इन तीनों भक्ति का स्वाद भक्तजन अभिन्न ही बतलाते हैं। थोड़ा भी भेद नहीं कहते हैं। अब कोई सज्जन शङ्का करें कि जब तीनों एक ही तत्त्व हैं तो श्री शिव जी वैष्णव क्यों कहाते हैं और विष्णु जी शैव क्यों कहलाते हैं ? कोई मनुष्य अपने आंप को नहीं भजता है। उपा–स्य और उपासक में भिन्नता होनी ही चाहिये। अतएव तीनों शक्तियाँ अलग अलग हैं और छोटी बड़ी हैं, यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि शरीर धारण का परम फल माना गया है, भक्तिमान् होना। अन्यथा यह अपवित्र शरीर किसी काम के लायक नहीं। अपने तीनों देवों ने यही मार्ग दिखाने के लिये ऐसा किया है, अन्यथा बचे हुये जनों का उद्धार होना कठिन था। तथा भक्तों में वैमनस्य न फैले, इस विचार से भी वे एक दूसरे के उपासक बन गये हैं। अतएव यह माया की कारस्वाई है कि शैव विष्णु से द्वेष मानते हैं और वैष्णव शिव से। अभी भी मैंने बहुत से ऐसे वैष्णवों के तथा शैवों के दर्शन किये हैं, जिन की चेष्टा तथा बोली देवों में अभिन्नता को बताती है। धन्य हैं वे महात्मा जिन का हृदय परमात्मा की दया से विमल हो गया है और जिस में सब देवता एक ही रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। अतएव ऐसा कभी नहीं समझना चाहिये कि अमुक देव सेव्य है और अमुक असेव्य हैं। भक्ति जिन की ही होवे, उन्हीं में सबों का तादात्म्य मानना चाहिये। इसी भाव में आप को केवल यह दिखा कर कि, ब्रह्मा जी ने तथा विष्णु जी (श्री रामचन्द्र जी) ने कितने प्रेम से शिव जी की वन्दना की है, इस लेख को समाप्त करूँगा। स्कंद पुराण, काशी-खण्ड, अध्याय ५८ श्लोक ६ ठाँ है; श्री विष्णु भगवान् कहते हैं:—

"अचेतनानि कर्माणि स्वतंत्राः प्राणिनोऽपि न,
त्वञ्च तत्कर्मणां साक्षी, त्वञ्च प्राणिप्रवर्तकः।"

अर्थात् नाथ ! कर्म जितने भी हैं सब अचेतन हैं और प्राणी भी स्वतंत्र नहीं हैं क्योंकि तुम उन कर्मों के साक्षी हो और जीवों के प्रवर्त्तक हो। इस के बाद—

शम्भुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च पुनः पुनः।
प्रतस्थेऽथ सलक्ष्मीको मन्दराद्गरुड़ध्वजः॥

शम्भु की प्रदक्षिणा करके और बारबार उनको प्रणाम करके लक्ष्मी सहित भगवान् गरुड़ध्वज गये।

इसी प्रकार ब्रह्माजी कहते हैं:—

"अद्य मे स्वतपोवृक्षो मनोरथफलैरलम्।
शिवभक्त्यम्बुनासिक्तः फलितोऽतिबृहत्तरैः॥"

(का० खं०, अध्याय ५२ श्लोक २६)

इस प्रकार अनेक स्थान में परस्पर भक्ति की पराकाष्ठा देखने में आयेगी। पद्मपुराण खण्ड ५ अध्याय पंचम श्लोक १०५ में लिखा है:—

"आनन्दनिष्पन्दविलोचनाश्रुप्रवाहसंसृष्टकपोलदेशः।
दधार देवं गिरिशं हृदम्बुजेगो चीरसुस्निग्धसुचारुगात्रम्"।

भगवान् श्रीराम के कपोलों पर अश्रु की धारा आनन्द समुद्र से उमड़ कर जलरूप में बह रही है, और वह हृदय-कमल में स्वच्छ नवनीत समान श्री शिव जी को रख कर आनन्द में लीन हैं। इस प्रकार जब तीनों की भक्ति श्रेयस्कर मानी गई तो यह प्रश्न होता है कि श्री शिव जी की पूजा में क्या विशेषता है? इसका उत्तर यह है कि कलिकाल में जनता की प्रवृति तामसी होती है और श्री विष्णु महाराज की पूजा तामस तथा राजस भावों से नहीं, केवल सात्विक भाव से ही हो सकती है। किन्तु श्री शिव जी की पूजा चाहे जिस भाव से करे, सब विहित है। अतएव इनकी पूजा का अधिकार सबों को है। दूसरी बात किसी निर्धन भक्त ने कहा है कि भाई! श्री विष्णु की पूजा में तो धातु की मूर्त्ति, पीताम्बर, मन्दिर, सोना, चाँदी के पात्र घड़ी, घण्टा आदि बहुमूल्य पदार्थ चाहिये जो मुझसे दुखियों को मिलना कठिन है किन्तु श्री शिव जी की पूजा में तो बेहद सुलभ है क्योंकि:—

"मूर्त्ति मृदा विल्व-फलेन पूज्या,
अयत्नसाध्यं मुखमेववाद्यम्।
फलञ्च सायुज्यपदप्रदानं,
निस्स्वस्य विश्वेश्वर एव देवः।"

अर्थात् सब जगह मुफ्त मिलने वाली मिट्टी से मूर्त्ति बना लो, बन के बिल्व वृक्षों से तीन पत्तियां तोड़ लो, और बिना खर्च मुख-वाद्य बजा लो और शिव को प्रसन्न कर फल सायुज्य मोक्ष ले लो। इस लिये निस्स्व जो गरीब जन हैं, उनके लिये आशुतोष शंकर ही उपास्य हैं। अतएव

"शिवो गुरुः शिवो देवः शिवोबन्धुः शरीरिणाम्,
शिव आत्मा शिवोजीवः शिवादन्यन्न किञ्चन।"

स्कन्द० तृ० खं० अ० ५ श्लो० १ ही ठीक है। अब इनकी पूजा-विधि थोड़े शब्दों में लिखी जाती है। वैसे तो शिव जी का पूजना सदा उत्तमपूजा-सामग्री से हो सकता है, किन्तु प्रदोष समय में विल्वदलादिकों से भस्म रुद्राक्ष को पहन कर पूजा करने के लिये शास्त्रों में बड़ा जोर दिया है। शास्त्रों में कहा जाता है कि,

"प्रदोषे पूजितः शम्भुः सर्व सम्पति दायकः"।

इसका कारण स्कन्द पुराण में लिखा है:—

"प्रदोषसमये देवः कैलासे रजतालये।
करोति नृत्यं विवुधैः अभिष्टुत गुणोदयः"॥
(तृ० खं० अ० ६ श्लो० ७)

अर्थात् प्रदोष समय में सब देवों से स्तुत होकर श्री शिव जी ताण्डव किया करते हैं। एक दूसरे श्लोक में है कि,

"वाग्देवी धृतवल्लकी, शतमखो वेणुन्दधत्।
पद्मजस्तालोन्निद्रकरः रमा भगवती गेया प्रयोगान्विता।
विष्णुस्सान्द्रमृदंङ्ग-वादन पटुः, देवास्समन्तात्स्थिताः,
सेवन्ते तमनु प्रदोषसमये देवम्मृणानीपतिम्।

अर्थात् सरस्वती जी वीणा, इन्द्र बंशी, ब्रह्मा ताल, बजाते हैं और लक्ष्मी जी आगे आगे गाती हैं,

विष्णु जी मृदङ्ग बजाते हैं, देव-गण चारों ओर श्री शिव जी को घेरे रहते हैं।

"अतः प्रदोषे शिव एक एव,
पूज्योऽथ नान्ये हरिपद्मजाः"

क्योंकि,

"तस्मिन महेशे विधिनेज्यमाने,
सर्वे प्रसीदन्ति सुराधिनाथाः"।

अतएव शिव पूजन के लिये यह समय परमोत्तम माना गया है। अब दूसरी बात भस्म की है। इसका माहात्म्य, तथा इसकी आख्यायिकायें पद्म पुराण के ११० अध्याय में और देवी भागवतादि पुराणों में लिखी मिलती हैं। शिव पूजन काल में भस्म अवश्य लगाना चाहिये क्योंकि लिखा है कि, "बिना भस्म त्रिपुण्ड्रेण बिना रुद्राक्ष मालया" पूजा सफल नहीं होती। कात्यायन जी कहते हैं कि:—

"श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने।
धृतत्रिपुण्ड्रः पूतात्मा मृत्युञ्जयति मानवः"॥

उपर्युक्त सब कामों के करते समय भस्म लगाये। शास्त्र में लिखा है कि:—

"यानि तीर्थानि लोकेऽस्मिन्,
गंगाद्याः सरितश्चयाः।
स्नानो भवति सर्वत्र,
ललाटे यः त्रिपुण्ड्रधृक्॥"

(पद्म पुराण १०८ अध्याय)

अर्थात् तीर्थ, नदी, सरोवर आदि स्नान के पुण्य भस्म धारण से होता है। और भी कहा है कि

"कोवेद भस्म सामर्थ्यम्महादेवादृतेऽपरः। दुर्विज्ञेयं यथा शम्भोर्माहात्म्यं भस्मनस्तथा।"

अर्थात् भस्म तथा श्रीशिव का माहात्म्य कितना है, यह कहना कठिन है। श्रीराम जी कहते हैं:—

"न शक्ति भस्मनो जाने, प्रभावम्वाकुतस्तव,
नमस्तेस्तु नमस्तेस्तु त्वांमेव शरणङ्गतः"
(पद्म पुराण १०५ अ०)

"सर्वोपनिषदां सारं समालोच्य मुहुर्मुहुः।
इदमेवहि निर्णीतम् परं श्रेयस्त्रिपुण्ड्रकम्।
(अ० १७)

अतएव यह प्रमाणित हो गया कि भस्म परम कल्याणदायक है। अब रही रुद्राक्ष की बात। लिखा है:—

"अरुद्राक्षो जपः पुंसां तावन्मात्र फलप्रदः"

तथा—

"विभूतिर्यस्य नो भाले नाङ्गे रुद्राक्ष धारणम्।
नहिं वाण्या शिवोच्चारः तं त्यजेदन्त्यजं यथा।"
(आह्निक सूत्रावली पृष्ठ ४३)

और यह भी है कि:—

"रुद्राक्ष धारणं पुण्यं, केन वा सदृशं भवेत्।
महाव्रतमिदं प्राहुः, मुनयस्तत्त्व-दर्शिनः॥"

अर्थात् तत्त्व-दर्शी मुनिजन रुद्राक्ष-धारण एक महाव्रत मानते हैं। अतएव इस का पुण्य किस कार्य के पुण्य के सदृश बतावें। पद्मपुराण में लिखा है कि:—

"रुद्राक्षं मस्तके धृत्वा शिरः स्नानं करोति यः।
गंगास्नानं फलं तस्य जायते नात्र संशयः॥"

अर्थात् चोटी में (अथवा शिर के किसी भाग में) जो रुद्राक्ष धारण कर के शिर-स्नान करता है, उसे गंगा स्नान का फल होता है। इसमें सन्देह नहीं। रुद्राक्ष के सम्बन्ध में विस्तार रूप से स्कंद पुराण तृ० खं० १६ अध्याय में लिखा गया है। अंत में भगवान् शंकर को नमस्कार-पूर्वक लेख समाप्त किया जाता है।

"ज्योतिर्मात्र स्वरूपाय निर्मलज्ञान चक्षुषे नमः।
शिव शान्ताय ब्रह्मणे लिङ्ग मूर्त्तये।"

अशरणशरण महादेव

[ले०—श्री गौरीशंकर जी गनेड़ीवाला]

नमस्कार प्रभु निकट, दूरवर्त्ती प्रियदव हर!
नमस्कार कामारि, सूक्ष्म अरु थूल रूपधर।
नमस्कार प्रभु वृद्ध रूपधारी, त्रयलोचन।
नमस्कार पुनि तुमहिं, तरुण तनधर भयमोचन।
नमस्कार सब भाँति ते, तोहिं करौं अवढरढरन।
सर्व-स्वरूपी आप हौ, महादेव अशरणशरण।

उपनिषत् कथा

(७१ पृष्ठ के आगे)

किसी कार्य के करने या न करने का विचार इस रूप के संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियाँ जिसकी हैं उसको मन कहते हैं। मनोमय कोष—यह मन एवं चक्षु, कर्णादि पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गठित हैं। संकल्प विकल्प के होते हुये किसी काम के करने की इच्छा या अनिच्छा होने पर भी करना ऐसी निश्चयात्मक वृति जिसमें है उसको बुद्धि कहते हैं। विज्ञानमय कोष इस बुद्धि और पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गठित है। रज, सत, तम की जो साम्यावस्था होती है वही प्रकृति है। उसके विपरिणाम से जगत् की रचना है। और उसमें बहिर्मुख वृति होती है। जो अन्तर्मुख वृति है वही आनन्दमय कोष है। आनन्दमय कोष में ही आत्मा की छाया पड़ती है और वह उसी से आनन्दित होता है। परन्तु आत्मा इन सब से अतीत है।

वरुण ने अन्नमय, प्राणमय, कोष की कथा कही है। ब्रह्मोपलब्धि उपाय-स्वरूप चक्षु, कर्ण, मन और वाक्य ये कई चीजें ज्ञान-साधना के लिये उपदेश की गई हैं। तत्पश्चात् उन्हों ने भृगु को ब्रह्म के लक्षण दर्शाये। ब्रह्म के लक्षण दो प्रकार हैं,—स्वरूप लक्षण तथा तदस्थ लक्षण, जो किसी स्वरूप मात्र के बोधक हैं वह विशेषणादि के बोधक नहीं—यह स्वरूप लक्षण है। जैसे,—ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है। और जो सामयिक क्रिया आदि धर्म द्वारा ब्रह्मबोधक है, उसे तदस्थ लक्षण कहते हैं। जैसे,—ब्रह्म की सृष्टि, लय और कर्तृत्व। यहाँ पर वारुणी ने कहा, "जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय हैं" इसी प्रकार के उपदेशों तथा ब्रह्म के तदस्थ लक्षण द्वारा ही ब्रह्म का बोध हुआ। यह तदस्थ लक्षण द्वारा समझा जा सकता है कि जगत् का एक मात्र सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्म ही है तथा पालन-कर्ता एवं संहार-कर्त्ता भी यही ब्रह्म है! सृष्टि स्थिति, लय में ब्रह्म के ऊपर किसी का हाथ नहीं है। कोई जीव अपने अहंकार के कारण अपने आप को कर्ता समझे तो वह उसका मिथ्याभिमान मात्र है।

(शेष फिर)

सम्मतियां

डा० पीताम्बरदत्त, बड़थ्वाल, काशी विश्वविद्यालयः—

'पुरुषार्थ' की २री ३री सम्मिलित संख्या के दर्शन हुये। आप ने अंधकार में पड़े हुये धार्मिक विषयों पर प्रकाश डालना आरम्भ किया है, जो अत्यन्त स्तुत्य है। परमात्मा आपको अपने प्रयत्न में सफलता प्रदान करे।

—'पुरुषार्थ' का श्रीगणेश अच्छा है। "अल्पारम्भः श्रेयस्करः।" आगे आगे इस का विलास अभिलषित है। इस प्रकार के शिव-साहित्य की जरूरत है। इस युग में भगवद्भक्ति का प्राचीन प्रासाद गिर रहा है और गिराया जा रहा है। अतः इस प्रकार के साहित्य के सुदृढ़ खम्भे लगा कर उसे सहारा देना स्तुत्य कार्य है। "कलौ तु केवला भक्तिः" के अनुसार यह युग तो भक्ति का ही कहा गया है; पर वह भगवान की न होकर और किसी की हो रही है। अवश्य इस प्रकार के साहि-

त्य से प्रवाह की गति बदली जा सकती है। भगवान् भूतभावन सहायता दें। आशा है कुछ दिनों में "पुरुषार्थ" "कल्याण" की तरह देश में फैल जायगा।

—किशोरीदास बाजपेयी।

PROFESSOR P. K. ACHARYA, I. E. S., M. A. (Calcutta), ph. D. (Leyden), D. Lit. (London), Head of the Department of Sanskrit and Dean, Faculty of Arts, University of Allahabad:–

I thank you for a copy of the first issue of your Purushartha which you have so kindly sent me. May I congratulate you on your great effort in bringing out such a magazine dealing exclusively with religious matters and entirely devoid of so called short stories. I hope you will maintain the high standard of your magazine in the collection of articles from such distinguished writers and also in its neatness and get up.

Wishing you all success,

Yours truly,

P. K. Achyarya.

United India & Indian States:—

Purushartha.--Edited by Ramlalji Tiwari and Shanti Prasadji Shukla, M. A, Gonda (Oudh).

This is a new Hindi monthly devoted to religious topics. Both the get-up and contents of the first issue are quite good.

साहित्य--चर्चा

स्वदेश (मासिक पत्रिका)—सम्पादक (१) कविरत्न पं० मायादत्त पाण्डेय शास्त्री, (२) वैद्य-रत्न पं० श्रीनारायण पन्त वैद्यशास्त्री, चन्दौसी, वार्षिक मूल्य २), एक प्रति का ≡)

पत्र सनातन धर्म का पुष्ट पोषक है—उसका नहीं जिसे गांधी जी "सनातन धर्म" कहते हैं, क्योंकि पत्र का मन्तव्य यह जान पड़ता है:—

"गांधी के अधार्मिक हमलों से,
हिन्दू हैं कष्ट उठाय रहे।
उन सब के कष्ट निवारन को,
अब गांधी पन्थ नसाना है॥"

पत्र धार्मिक "स्वदेश" और धार्मिक "स्वराज्य" का पत्र है और प्राचीन मत परम्परा के तत्त्वार्थ का उल्लेख और प्रचार करने वाला है। पठनीय है।

श्रेय (सचित्र मासिक पत्र)—सम्पादक, आचार्य श्री बालकृष्ण गोस्वामी। वार्षिक मूल्य २।) एक प्रति का ।) श्री वृन्दाबन भजनाश्रम ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित।

'श्रेय' के प्रथम भाग के ६, ७, ८ तथा ९ अंक हमारे सामने हैं। छपाई, सफाई मध्यम कोटि की है। भक्ति-प्रेम-रस रसिक-आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द की लीलाभूमि वृन्दाबन से, प्रकट होनेवाले

इस पत्र में भक्तजनों के लिये काफ़ी स्निग्धता है। "कल्याण" के लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक, संचालक महानुभावों का हरिप्रेमरस उनके लेखों के रूप में और 'गीता प्रेस' के नयनसुखद चित्रों के रूप में, इस 'श्रेय' में भक्तजनानन्द का प्रवाह करता है। पत्र उपादेय है।

पुरुषार्थ (मराठी, मासिक)—सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक श्री दा० सातवलेकर, औंध, सितारा।

'पुरुषार्थ' (मराठी) का १२० वाँ क्रमाङ्क हमारे सामने है। छपाई उत्तम, सफाई मध्यम कोटि की है। ऊँचे दर्जे का हिन्दूसंस्कृति का पोषक और प्रचारक पत्र है। लेख ज्ञानवर्धक, पाण्डित्यपूर्ण और सुपाठ्य हैं।

वैदिक धर्म—सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक श्री पा० दामोदर सातवलेकर, वार्षिक मूल्य म० आ० से ३), वी० पी० से ३।), विदेश के लिये ४)—क्रमाङ्क १७४

श्री० पा० दामोदर सातवलेकर की गम्भीर विद्वता और उन के मनन और अध्ययन का इस मासिक पत्र पर गहरी छाया है। धार्मिक विषयों और पारलौकिक तत्वोंपर शास्त्रीय (scientific) अनुवीक्षण और मीमांसा करना इस पत्र का उद्देश्य जान पड़ता है। अपने उद्देश्य-प्राप्ति में पत्र को काफ़ी सफलता मिली है। भारतीय संस्कृति के प्रचार में दत्तचित्त इस पत्र की हम हृदय से सफलता-कामना करते हैं।

कल्याण—शक्त्यंक तथा अंक ४, ५—सम्पादक श्री बा० हनुमान प्रसाद पोद्दार, मुद्रक और प्रकाशक घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, वार्षिक मूल्य ४≡) विदेश में ६।।=) (१० शि०) साधारण प्रति का देश में ।) विदेश में ।≡) ८ पेंस।

"कल्याण" की टकसाली, छपाई सफ़ाई और सजधज के विषय में अब कुछ प्रशंसा करना पुनरावृत्ति मात्र होगी। जिस परिश्रम, खोज और मनोयोग से इस का सम्पादन होता है वह धार्मिक साहित्य जगत् में एक नवयुग का परिचायक है। शक्त्यंककी पृष्ठसंख्या परिशिष्टांक सहित ७०४ हैं, अन्य दो अंक साधारण अंक हैं।

शक्तितत्त्व और उसके नाना वर्णनों के विषय में शक्त्यंक एक भारी संग्रह है। भरपूर इसमें लेख, चित्र और नक्शे हैं जिनसे शक्ति सम्बन्धी ज्ञान बहुत बड़ी मात्रामें खोला गया है। साधारणतः यह अंक शक्तिवाद के विषयोंके लिये कोष या रेफरेन्स बुक का काम करेगा और इस महत्त्व से संग्रह के योग्य है।

क्षणिक मनबहलाव या थोड़े पाठ की आदतवालों के लिए इस में अपनी रुचि की चीज़ नहीं मिलेगी। विषय के कुछ कुछ अनुपात में ही इस अंक की काया का गुरुत्व है। इस का सीधा फल यही होगा कि जो इसके अधिकारी नहीं उनके हाथ में, स्वभाविक रीति से, अपने आप ही, यह ग्रंथ और इसकी ऊहापोह

न पड़ेंगी। आजकल के समय में सत्गुरु-प्राप्ति बड़ी कठिन बात है, और उससे भी कठिन है सत्गुरुकृपा। इनके अभाव से, फलतः, न केवल अनाधिकारी से आगम और साधना की रक्षा रहती है किन्तु इस से शक्तिवाद के दुर्लभ और अमृतरूप ज्ञान के अक्षुण्ण-प्रचार की बड़ी क्षति है। लाभ थोड़ा है, हानि हज़ारगुना है। विद्याको छिपाकर रखना और शिष्यों को खोज में भटकने देना पुरानी अनुदारता है। भारतीय नव-जागृति (Renaissance) के वर्तमान् युग में आध्यात्मिक जागृति भी जो चल रही है, उस की यह विशेषता है कि उपर्युक्त पुरानी अनुदारताके नियम शिथिल किए जायँ और शिष्य गुरु को ढूँढता न फिर कर, गुरु ही स्वयं आत्मप्रकाश (Self--expression) तथा लोक-कल्याण के भाव से अधिकारी शिष्य को पाने की चेष्टा करता रहे। विवेचनापूर्ण, ज्ञान-गर्भित और सुरुचि परिचायक इस शक्त्यंक से इस नवीन शैली का प्रमाण मिलता है।

किन्तु यह शक्त्यंक केवल वर्णना-त्मक है। जो बात अभ्यासगम्य और योग और साधना की है, और जिसके आचरण का यह आदर्श है "इतना ही-बस-आगे इसके बताया नहीं जा सकता," उसे किस प्रकार वर्णन-बद्ध किया जा सकता है! इस स्वाभाविक त्रुटिके कारण ही—हमारा अनुमान है—वाममार्ग के सम्बन्ध वाले जटिल और आधार-भूत विषय शक्त्यंक में प्रायः बिलकुल नहीं आये हैं। यदि कुछ संकेत रूप में ही उक्त विषय पर विद्वान लेखकों में से किसी ने प्रकाश डाला होता तो कदाचित् शक्त्यंक के सम्पादकीय शब्दों में शक्तिपूजा पञ्च-मकार तथा पशुबलि पर भ्रमात्मक भाव न प्रकट होते। सुयोग्य सम्पादक महोदय को कदाचित् इस विषय का यथार्थ ज्ञान स्वयं नहीं है इसी लिए इस के विषय में अवाञ्छनीय भाव प्रकट कर बैठे हैं। उन से हमारा यही अनुरोध है कि उक्त विषयों की गम्भीरता और तत्त्व के अ-ध्ययन और प्रकाशन के लिये भविष्यत् में अपनी सदैव वाली सरस-शरणागतिनिष्ठा और गम्भीर श्रद्धा को काम में लावें।

ज्योतिष-प्रभा—सम्पादक पं० कमल नयन भृगु शास्त्री, स० सम्पादक पं० मुरलीधर शर्मा प्रकाशक, पं० रामेश्वर प्रसाद पाण्डेय, शास्त्री, ओंकार प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर। वार्षिक मूल्य ३), एक अंक का ।-), वर्ष १, संख्या १।

भारतीय आयुर्वेद शास्त्र के समान ही भारतीय ज्योतिष के सम्बन्धमें अनेक अनर्गल, अनर्थक और असत्य भाव जनता में फैले रहने की फैशन है। प्रायः यह विषय, अपने व्यावहारिक रूप में, ग़लत ढंग पर, जनता के सामने उपस्थित होता रहा है। इसी कारण यह अंधकार छाया है। आशा है इस अन्धकार को दूर करने में "ज्योतिष-प्रभा" पूरा कार्य करेगीं। यद्यपि सजधज मामूली है किन्तु

लेखों के विन्यास से ज्ञात होता है कि ज्योतिष विद्या को इस पत्र में नवीन और सज्ञान ढंग से रक्खा जायगा। हम इसकी पूर्ण सफलताकी कामना करते हैं।

क्यों ?

(सम्पादकीय)

जगत् के आदि से मनुष्य को दो प्रश्न तंग कर रहे हैं। स्थिति का क्या तत्त्व है ? मृत्यु का क्या परिणाम है ? वस्तुतः दोनों प्रश्न एकही हैं—जो कुछ हमारी इन्द्रियों, हमारे मन, हमारी बुद्धि के प्रत्यक्ष होता है वह कैसे होता है ? जगत् की अनेक जातियों ने विभिन्न युगों में इस प्रश्न को सुलझाने की, परोक्ष को समझने की—कोशिश की है। सब को यह पथ अनन्त सा दीखा है। कुछ लोगों ने मुख्यतः नाना शरीर धर्म का ही अनुसन्धान, छानबीन और तत्त्वान्वेषण करके मसले को छोड़ दिया है और वस्तुओं का "कैसे ?" विषय भर ही ज्यों-त्यों निर्दिष्ट करके, "क्यों ?" उपस्थित होते ही, "इस पर विश्वास करो, इसे यों हो मान लो; यह प्रकृति (Nature) है" असली बात में भौतिक बुद्धि को प्रवृष्ट नहीं किया है क्योंकि कदाचित् उसमें भौतिक दृष्टि प्रवेश पा नहीं सकती। ऐसे लोग प्रकृतिवादी या जड़वादी हैं जिनको वस्तुस्थिति के परदे में से सत्, चित् और आनन्द के तत्त्व को खोज निकालने में पाथापच्ची करने की जरूरत नहीं मालूम पड़ती यद्यपि उसके झिलमिल प्रकाश के अनुभव का आनन्द उन्हें भी स्वभावतः मिलता है। इसी कारण जड़वादी को पूरा अनाध्यात्मचेता कहना अन्याय होगा। किन्तु उसकी निष्ठा मुख्यतः शरीर तक ही रह जाती है। "कुतः" इस प्रश्न का उत्तर सन्तोषजनक वह नहीं उपस्थित कर पाता।

जड़वादियों से ऊपर, और खोज में कुछ अभ्यन्तर वाले, वे हैं जो इन्द्रियों के संगठन, तत्त्व, कार्य और व्यापार से मुग्ध हैं और उन्हें इस क्षेत्र में अनेक विस्मयोत्पादक तत्त्व और व्यापार मिलते हैं। उनका अनुसन्धान क्षेत्र सचेतन है—चैतन्य नहीं। इस क्षेत्र से नाना व्यावहारिक उपयोग निकाल कर और आगे केवल नमस्कार करके वे फिर जड़वादियों की कोटि में लौट आते हैं, चित् का अनुभव करके भी वे उसके "तत्त्व" के अनुभवानन्द तक नहीं जाते। इसी वर्ग में अनेक पंथों के अभ्यास-आचारों का विकास है।

बुद्धि एक ऐसी वस्तु है जो उपर्युक्त मिट्टी और कुहरे के नानाविध जगत् के ऊपर उठ कर प्रकाश-किरण बिखेरती है और ऐक्य में अनैक्य और अनैक्य में ऐक्य का सामञ्जस्य पाती है। किन्तु अनुभव, तर्क और साक्षात्कार की सीढ़ी में, बुद्धिवादी बीचोबीच में हैं। जहाँ तक तर्क है वहाँ तक सीमा अवश्य है और साक्षात्कार के बिना सीमा के बन्धन से छुटकारा नहीं। जब तक सीमा है तब तक असीम प्रत्यक्ष हो नहीं सकता।

अतएव इस प्रकार की सीढ़ी में, एक प्रकार के विकास-नियम के आधार पर विज्ञान-आनन्द के खोजी ही अपेक्षाकृत सर्वोपरि सिद्ध होते हैं और

"कुतः" ? की खोज में "तत्" तक पहुँचते और "तल्लीन" होते दिखाई देते हैं।

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु- शिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।

ब्रह्म के अन्वेषक और ब्रह्म-विद्या के द्रष्टा ऋषियों ने इस विषय को पूरे परिणाम तक, अनुभव, तर्क, साक्षात्कार द्वारा, योग, साधना और अन्तमुखी प्रवृत्ति के बल पर, पहुँचा दिया था। और इसके अनन्य मूल्य के विषय में उनका यह मत था–उनके सुयोग्य वंशधरों का अब भी मत है– "उसे लेकर हम क्या करें जिससे हम अमर न होवें।" जो वस्तु स्थायी और चिर है उसी का मूल्य उनके निकट सब कुछ है, अन्यथा नाना व्यापारों और वस्तुओं के विषय में उनका "नेति नेति" ही कहना है।

जगज्जीवन इतना बहुमुखी है, उसमें इतनी दौड़धूप, उलटफेर, अशान्ति और ज्वर है कि उसमें जगत्प्राणी प्रायः वेसुध होकर–एकांगी भाव से ही– निमग्न हो जाते हैं। लेकिन देर या सवेर, प्रातः या सायं, जन्म या मृत्यु के अवसर पर, प्राणी को यह प्रत्यक्ष अवश्य होता है "यह सभी झूठा है, अवास्तविक है, सच्ची वस्तु को हम नहीं पा सके" (Realisation of real unreality) वह तब अपना दम घुटना अनुभव करता है, ऊबता है, अपार अज्ञेय क्षुधा पिपासा से मुरझाने और मरने लगता है। ऐसी ही अवस्था के निवारण के लिए और जिससे कि ऐसी अवस्था आवे ही नहीं, ब्रह्म-विद्या चिर संजीवनी का विधान है जिससे कि जीवनकाल में जीवन्मुक्ति रहे और मृत्यु में अमरता। प्राचीन होकर भी यह मार्ग सदा-नवीन है, अति कठिन और अप्रेय होकर अनुगम्य है और श्रेय है। ऐसेही अमृत-विषय के पठन-पाठन, चर्चा, मीमांसा, साधना और अभ्यास के लिये सहृदय पाठकों के प्रयत्नों को जगाना हमारा ध्येय है। "भूत्यै मा प्रमदितव्यम्" में भली भाँति दत्तचित्त रहकर भी अध्यात्म पक्ष में "मा प्रमदितव्यम्" किन्तु "उत्तिष्ठत जाग्रत" हमारा प्रयत्न होना चाहिये।

और एक बात तो और है। हमारी पुनर्जागृति (Indian Renaissance) तब तक सर्वांगीण, पूर्ण और मौलिक कैसे हो सकती है जब तक हम अमृत तत्त्व आध्यात्मिक पक्ष को पुष्ट न करें–पुराने सन्देश को नये प्राणों और शब्दों और रूपों में अभिव्यक्त न करें। इसलिए हम कहते हैं कि गाढ़ भौतिक प्रयत्नों के मध्य, कला-कौशल, साहित्य, संगीत की नवजागृति की सफलता के लिये, सरस और पुष्ट आध्यात्मिक निष्ठा की आवश्यकता है! इसी से जीवन में बल रहेगा और मृत्यु में शान्ति।

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्

(केन० १२, ४)

———

पुरुषार्थ
अर्थ
काम
धर्म्म
मोक्ष
बृजेन्द्र
भाग १
संख्या ५
सम्पादक—
रामलाल तिवारी शास्त्री
शान्तिप्रसाद शुक्ल एम. ए.
वार्षिक मू० ३)
एक अंक ।-)

विषय-सूची ।

ओंकारेश्वर शिव

शिरश्चोत्तरतो यस्य पादा दक्षिणतस्तथा । यश्च सर्वोत्तरः साक्षादोङ्कारोऽहं त्रिमात्रकः ॥
ऊर्ध्वं चोन्नामये यस्मादधश्चापनयाम्यहम् । तस्मादोङ्कार एवाहमेको नित्यः सनातनः ॥

(शिवगीता अ० ६ । २९-३०)

Gita Press, Gorakhpur.

'शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः ।
पुरुषार्थः शिवः सर्वं शिवादन्यन्न किञ्चन' ॥

पुरुषार्थ

भाग १. संख्या ५.

गोंडा, कार्तिक संवत् १९९१.

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ प्रवर्तिनीम्
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ।

कालिदासः

शंकर ।

(ले०—श्री शान्ति प्रसाद शुक्ल, गोंडा ।)

मंगलमय मंगलकर ।
शुचि सुखकर दुखहर हर,
पार्वतीपति प्रभुवर ।
त्रिनयन त्रिभुवनपति तुम,
त्रिपुरान्तक त्रिशूलधर ।
शशधरधर विषधर अरु विषधर धर ।
सुरसरिधर पिनाकधर डमरूधर ॥
अजर अमर अचल अमल सुखद सदय ।
शुभग सरल जयति जयति जय शंकर ॥
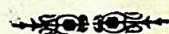
उपनिषदों में शिव तत्व

(ले० – श्री हरिदत्त शर्मा कूर्मचालीय शिलौटी वास्तव्य ।)

ॐ भद्रङ्कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा
भद्रंपश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभि-
र्व्यशेमदेवहितं यदायुः ॥

अद्वैत शिव ही एक आत्मा है। जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, जीव का संसार से निस्तार असम्भव है। अतः आत्मज्ञान का साधन वेदान्त शास्त्रों में लिखा हुआ है। आत्मा और शिव में कोई भेद नहीं है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि वह आत्मज्ञान में प्रयत्नशील हो।

योग चूड़ामणि उपनिषद में कहा है—

"योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः
योगोपि ज्ञानहीनस्तु नक्षमो मोक्षकर्मणि ।"

योग क्रिया विना कोरा ज्ञान मोक्ष का साधक नहीं हो सकता। ज्ञान विना योग भी मोक्ष का साधक नहीं। अतः मोक्ष की इच्छा करने वाले को चाहिये कि योग के साथ ही ज्ञान का अभ्यास किये जावे। बिना लड़ाई लड़े कोई भी शत्रुओं को नहीं जीत सकता। अतः बलवान मनुष्य युद्ध करके ही शत्रुओं को जीत लेता है। मनुष्य अनेक जन्मों के ज्ञान से ही योग की प्राप्ति कर पाता है, अतः मोक्ष का साधन योग विना असम्भव है।

योग क्या है ?

"मनः प्रशमनो पायो योग इत्यंभिधीयते ।"

—(महोपनिषद)

मन की शान्ति का उपाय योग है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमाङ्गतिम् ॥

कठ उपनिषद में कहा है जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निर्व्यापार हो जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं कर पाती उसी को परम गति कहते हैं; उसी को योग भी कहते हैं जिसमें ज्ञानेन्द्रिय स्थिर हो जाते हैं; अनन्त काल तक अपना अपना कार्य कर चुकने पर निर्व्यापार हो जाते हैं तब सकल सिद्धिप्रद योग प्राप्त होता है। मनुष्य को पहले ऐसी श्रद्धा हो जानी चाहिये कि योग के ही द्वारा मैं सब कार्य सिद्ध कर लूँगा। बस परम दयालु जीव के उद्धार के लिये गुरू बन कर उसके मन में ऐसी प्रेरणा करेंगे कि उसकी श्रद्धा बढ़ती जायगी और वह योग मार्ग का पथिक बन जायगा। उसके लिये ऐसा योग है—प्राण अपान, रेतस्—और तेज, सूर्य और चन्द्र नाडी। जीव और परमात्मा का योग ही योग कहा जाता है। शीत-उष्ण, भूख-प्यास, सुख-दुख आदि द्वन्द्वों का मिलना ही योग है।

"षट् चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पञ्चकम् ।
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत !"

(योग चूड़ामणि)

अपने देह में ६ चक्र १६ आधार ३ लक्ष्य पाँच आकाशों को जो नहीं जानता उसे योगसिद्ध नहीं हो

सकती। यह गुप्त रहस्य परमहंसों का मुख्य साधन जो नहीं जान पाता उसे इस लोक को भोग और पीछे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

षट् चक्र

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्।
नाभौ दश दलं पद्मं हृदये द्वादशारकम् ॥ १॥
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
सहस्रदललङ्ख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि ॥२॥

चार पत्ते वाला आधार चक्र पीले रंग का वँ शँ षँ सँ इन चार बीजमन्त्रों से युक्त बीच में त्रिकोण तिसके के बीच में इच्छा ज्ञानक्रिया शक्ति-युक्त शिवलिंग जिसकी कान्ति करोड़ों सूर्य के समान है, वाहन और शक्ति युक्त गणेश जिसमें विराजमान हैं, ऐसी भावना करे। स्वाधिष्ठान चक्र छकोर लाल हीरे के समान चमकदार बँ भँ मँ यँ रँ लँ जिसके छः कोनों में हैं, वाहन और शक्ति सहित ब्रह्मा जिसके अध्यक्ष हैं, ऐसा ध्यान करना चाहिए। नाभि में दस दल वाला कमल, जिसको मणिपूरक कहते हैं नीले मेघ के समान महा तेज युक्त डँ ढँ णँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ वर्णविभूषित वाहन और शक्ति सहित विष्णु जिसके अध्यक्ष हैं, ऐसा ध्यान करे। हृदय देश में बारह दल वाला अनाहत नामक कमल का ध्यान करे, मूँगे के समान लाल कान्तिवाला कँ खँ गँ घँ ङँ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ ठँ इन बारह पत्तों वाला कमल का ध्यान करे, बीचमें बाण लिंग हज़ारों सूर्य प्रभा-युक्त वाहन शक्ति-युक्त का ध्यान करे। महादेव उस दलके अधिष्ठाता हैं।

विशुद्ध नामक धूम्र वर्ण चमकीला दीपक की बत्ती के समान तेजस्वी, जीवात्मा जिस के स्वामी हैं, ऐसा ध्यान करे। भौंओं के बीच में दो दल-वाला सफेद आज्ञाचक्र हँ क्षँ वर्णविभूषित बिजली की सी चमकवाले निर्वाण रूप परमात्मा से अधिष्ठित का ध्यान करे।

सहस्र दल कमल हिम समान शुभ्र वर्ण सभी अक्षरों से शोभित है। उसके बीच में शुभ्रवर्ण (दो हाथ वाले) वर और अभय मुद्राओं से दो हाथ युक्त हों, सफेद गन्ध और माला से शोभित अपने प्रकाश से दीप्त अपने वामांग में स्थित रक्त वर्ण अपनी शक्तिसे युक्त गुरुका ध्यान करे।

आधार शक्ति गुद का नाम है, स्वाधिष्ठान लिङ्गको कहते हैं, नाभिस्थान मणिपूरक कहा जाता है, हृदय को अनाहत कहते हैं, गले की जड़ में विशुद्ध चक्र, मस्तक में आज्ञा चक्र होता है। इन को भली भाँति जानकर ही ध्यान में साधक को बैठना चाहिए। गुदचक्र अथवा वैष्णवी मुद्रा का लक्षण गुदा और लिंग के बीच में त्रिकोण मूलाधार चक्र है, पीले सोने के समान वह होता है बिजली सा चमकीला है। उस के बीच में अग्नि के वर्ण सा ध्यान किया जावे।

योगी को चाहिए सुन्दर मठ बनवावे, द्वार छोटा हो, छेद न हो, मच्छर पिस्सू खटमलों से वह रहित हो, उस में बीच में कुश, कम्बल, मृगचर्म आदि का पवित्र आसन बिछा हो। योगी को चाहिए कि वह सिद्धासन में बैठ कर वैष्णवी मुद्रा से स्थित हो फिर एड़ियों से गुदाद्वार दबा कर आधारचक्र से वायु उठा कर स्वाधिष्ठान की तीन परिक्रमा कर के मणिपूरक में जाकर अनाहत चक्र को भी लाँघ कर विशुद्ध चक्र में प्राणवायु को रोके। आज्ञाचक्र और ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करता हुआ 'मैं तीन मात्रा वाला ॐकार हूँ' ऐसा सदा

ध्यान करता हुआ देखेगा कि अकार के उच्चारण में पद्म खुल कर उकार में विकसित होगा और मकार कहते समय नाद (शब्द) सुन पड़ेगा। आधी मात्रा निश्चल रहती है। अनाहत स्वरूप से ज्ञानियों का वह शब्द ऊपर को निकलता हुआ ज़ोर से बजती हुई घाँट के शब्द की सी धुन सुन पड़ती है। उस के आगे ही ब्रह्म है। ज्योति ही ज्योति वहाँ अनुभव होती है। उसके आगे बुद्धि की भी गति न होने से अवर्णनीय है। हंस उपनिषद में कहा है 'आधार चक्र, से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सफेद स्फटिक मणि के समान ब्रह्मदर्शन है, वही परमात्मा है।

अजपा जप विधि

योगी अजपा जप करते हैं उसकी विधि यह है कि हंस ऋषि ने इसका अनुभव किया था अव्यक्त गायत्री छन्द हैं, परम हंस देवता हैं अहम् बीज है, स शक्ति है, सोहम् कीलक है (किवाड़ बन्द करके उनमें जंजीर फेरी जाती है ताकि वाहर से कोई खोल न सके इसी प्रकार अजपाजप करते समय मन में सोऽहम् ही जंजीर की जगह है, मन को ध्यान से वाहर नहीं होने देती) सूर्य चन्द्र निरंजन निरामास तनुसूक्ष्म बुद्धि को ध्यान में लगावे। 'अग्नि और चन्द्र को नमस्कार है' इन मन्त्रों से हृदय और करन्यास किए जाते हैं। इस प्रकार भावना करके आठ दल वाले पद्म हृदय के बीच हंस का ध्यान करै। इस हंस के अग्नि सोम दो पक्ष, ॐ कार शिर विन्दु नेत्र, रुद्र मुख, रुद्र पत्नी दो पैर, काल दो हाथ, अग्नि दोनों बगल हैं, देखना अनागार यह दो वाकी रहे हुए दो पक्ष हैं। यह करोड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी परमहंस हैं। इसी से सारा विश्व व्याप्त है।

हृदय में जो अष्टदल कमल है उसके पूर्व दल में मन जाने से पुण्य में बुद्धि होती है। अग्नि कोण में नींद आलस्य, दक्षिण में क्रूर बुद्धि नैऋत में पाप करने की इच्छा, पश्चिम में खेल कूद, वायु कोण में कहीं जाने की इच्छा, उत्तर में क्रीड़ा स्त्री विनास, ईशान में द्रव्यप्राप्ति, बीच में वैराग्य, केसर में जाग्रत अवस्था, कर्णिका वीच में स्वप्न, लिंग में सुषुप्ति, पद्म से छूट जाने पर तुरीय। जब हंस नाद में लीन हो जाता है तब तुर्यातति उन्मंन या अजपा जप की समाप्ति हो जाती है।

अजपा जप

हम इस अक्षर में बाहर आता है। स से भीतर चला जाता है, हंस हंस इस मन्त्र को सदा जपता रहता है। दिन और रात में २१६०० इक्कीस हज़ार छः सौ वार जप संख्या होती है। जब एक करोड़ जप हो जाता है तब हृदय से नाद का अनुभव होने लगता है। वही अनाहत शब्द है। उसके ध्वनि के वीच में जो जोत देखने में आती है उसके बीच में मन है। जब वह लीन हो जाता है वह विष्णु का परम सर्व श्रेष्ठ पद है, वही आकाश या परब्रह्म है।

अजपा जप के ध्यान के समय जो शब्द सुन पड़ता है उसके पहिले चिणा १ चिञ्चिणी २ घंटे की सीं धुनि ३ शंख का सा शब्द ४ सितार का सा शब्द ५ वाद्य का शब्द ६ बांसुरी का सा शब्द ७ मंगल नाद ८ मृदंग शब्द ९ मेघ का सा शब्द १०।

इन ९ शब्दों को छोड़ कर दशवें का ही अभ्यास योगी करे। जब साधक को प्राणायाम करते समय चिउँटी का सा काटना मालुम पड़े तो ध्यान रक्खे। अब क्रिया प्रारम्भ हुई। सावधान होकर ध्यान में लग जाये। फिर गर्मी से देह भुँजने लगेगा, तब

थकावट होगी, पश्चात् शिर कँपने लगेगा, फिर तालु से पसीना सा टपकने लगेगा, अनन्तर अमृत का स्वाद आवेगा, पश्चात् गुप्तवात मन में आने लगेगी, उसके अनन्तर बड़ी उत्तम वाणी सुनने में आवेगी, तब अपना देह नहीं देख पड़ेगा, नेत्रज्योति दिव्य हो जायगी, पीछे ब्रह्मदर्शन होगा, उसी समय मन नष्ट हो जायगा। जब मन ही न रहा तो उसके धर्म संकल्प विकल्प पुण्य पाप नष्ट हो जाने पर सदा शिव-शक्ति-युक्त सर्वव्यापी ज्योतिस्वरूप शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन प्रशान्त प्रकाशमान हो जाता है। यही अजपा गायत्री है। यह योगियों को मोक्ष देती है। इसके मन में आ जाने से भी सब पाप नष्ट हो जाते हैं, इसके समान ज्ञान दूसरा नहीं।

योग के ८ अंग

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टांग दर्शनम्।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च ॥१॥
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन् प्रत्याहारस्तथैव च।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने ॥२॥

सांकृते ध्यानपूर्वक सुनो योग के आठ अंग होते हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अंगों में से यम के दश प्रकार होते हैं, अहिंसा, सत्यव्यवहार, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, दया, सीधाबर्ताव, क्षमा, धैर्य्य, थोड़ा खाना और पवित्रता। वेद में लिखे हुये प्रकार से सत्य का व्यवहार यदि न हो तो देह, मन और वचन से किसी को न सताना भी हिंसा ही माना गया है। किन्तु सत्यतापूर्वक अहिंसा ही यथार्थ अहिंसा है। आत्मा व्यापक है, किसी से भी वह नहीं मारा जा सकता क्योंकि ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ आत्मा न हो। ऐसे व्यापक आत्मा को कौन मार सकता है। ऐसा जान कर जो किसी को दुःख देने की इच्छा नहीं करता वही अहिंसा का फल पा सकता है। आँख, कान आदि इन्द्रियों द्वारा जो चीज जैसी देखी और सुनी हो उसको वैसी ही दूसरे से कहना सत्य कहा है। इसमें कुछ भी कपट आ जाय तो वह सत्य नहीं होता।

जो कुछ सत्य है वही परब्रह्म है और कुछ नहीं ऐसा दृढ़ निश्चय भी सत्य कहा जाता है। दूसरे के धन जन व सम्पत्ति में मन से भी त्याग करना अस्तेय कहा जाता है। आत्मा में अनात्म व्यवहार न करना अस्तेय है। मन वाणी और देह से स्त्रियों का त्याग करना ब्रह्मचर्य्य कहाता है। किसी स्त्री को प्रेम से देखना, छूना, उससे हँसी करना, उसके गुणों को बखानना, एकान्त में उससे बातें करना, उसके मिलने की इच्छा करना, मिलने का यत्न करना और मिल जाने पर उससे दैहिक सम्बन्ध करना यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है। इन सबको छोड़ देना ही ब्रह्मचर्य्य है। ब्रह्मचर्य्य मुनियों को अवश्य सेवन करना चाहिये ब्रह्म पर ही मन लगै, दूसरे किसी व्यापार में न जाय यह भारी तप है। सांसारिक सभी जीवों का अपने आत्मा के समान मानना, दया है। पुत्र, मित्र, स्त्री, शत्रु और अपने को समान जानना आर्जव है, सरलता भी इसे कहते हैं। समदृष्टि भी इसी का पर्याय है। शत्रुओं से दैहिक, वाचिक तथा मानसिक कष्ट मिलने पर उन पर क्रोध न करना क्षमा कही गई है। अपकार करने वाले पर क्रोध करना यदि उचित माना गया है तो धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष पर अपकार करने वाले कोप पर ही क्रोध करना चाहिये।

द्रव्य की हानि हो जाय, किसी प्रिय मित्र का विछोह हो जाय तव भी चित्त व्याकुल न होने देना धृति है। वेद के ज्ञान से ही मोक्ष होगा और किसी प्रकार से भी संसार में आवागमन नहीं छूटेगा। मैं आत्मा ही हूँ दूसरा नहीं, ऐसी स्थिर बुद्धि और ज्ञान की दृढ़ता को धृति कहते हैं।

थोड़ा भोजन और अच्छे भोजन जिनमें सारे भोजन में से चतुर्थांश कम भोजन करना मितभोजन कहा जाता है। वहुत नमकीन, तेल का सेवन, खट्टा, गर्म, रूखा, चरपरा, शाक, हींग, अग्नि, स्त्रियों की संगति, रास्ता चलना, ठण्डे में स्नान, भूखा रहना इतनी वात योगाभ्यासी न करै। जव पहले पहले योगाभ्यास किया जाय तो दूध और घी आदि पतले और चिकने भोजन करने चाहिये। गेहूँ का आँटा, मूंग की दाल, भात योग-साधन के हित हैं।

भोजन की शुद्धि से सत्त्वगुण की शुद्धि, उससे स्मृतिशक्ति, उससे अज्ञान नाश होता है। देह के मल मिट्टी और जल से शुद्ध होते हैं। इसको वाह्य शुद्धि अथवा छोटी शुद्धि कहते हैं। मनन करने से मन की शुद्धि होती है। 'देह वड़ा मैला है, जीव सदा मलहीन है' यह दो वात मालूम पड़ गयीं तो शुद्धि में कितनी कसर है? कुछ भी नहीं।

तप, सन्तोप, आस्तिकता, दान, ईश्वर-पूजा, सिद्धांतों का सुनना, लज्जा, बुद्धि, जप, व्रत ये नियम हैं।

वेद में लिखे हुये कृच्छ्र चन्द्रायणादि व्रतों से शरीर को सुखा देना तप है।

मोक्ष क्या है? संसार में आवागमन कराने वाले कर्म कौन हैं? इस विचार को तप कहते हैं।

विना प्रयत्न किये जो कुछ मिल जाय, उसी से प्रेम करने को सन्तोष कहते हैं।

सांसारिक सुख से ब्रह्मलोक तक के भी सुखों में भी वैराग्य को श्रेष्ठ सन्तोष कहते हैं।

वेद वेदान्त पुराणादि वाक्यों पर विश्वास को आस्तिकता कहते हैं।

न्यायपूर्वक कमाये हुये धन को धार्मिक जनों या वैदिकों को दे देना दान कहाता है।

प्रसन्नतापूर्वक यथाशक्ति शिव, विष्णु आदि देवताओं की पूजा करना ईश्वर-पूजन है। आत्मीयों पर वहुत प्रेम न करना, झूँठे व्यवहारों से छल छिद्रादियों से परवञ्चन रहित रहना भी ईश्वरपूजन कहा जाता है। क्योंकि ये बातें ईश्वर को प्रसन्न कराती हैं।

सत्यज्ञान अनन्त निरतिशय आनन्द ये ही ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग हैं। ऐसा मनन करना ही वेदान्त का सुनना है। वेद या लौकिक बातों में जो निन्दनीय कर्म वताये गये हैं। उनके करने में जो लज्जा मन को होती है वही लज्जा है। सब वैदिक कर्मों में जिससे श्रद्धा हो गुरु के उपदेश करने पर भी वेद-वाक्यों पर ही विशेष श्रद्धा करके जो मंत्र जप का अभ्यास किया जाता है। वह जप है।

जिस जप को दूसरा न सुन सके वह उपांशु कहा जाता है परन्तु मानसजप सब से श्रेष्ठ है।

योग सिद्धि के आसन

जानु और जंघाओं के भीतर दो पैरों के तल भाग करके गला, शिर और देह सुन्दर सम करके ध्यान के लिये बैठने को स्वस्तिक आसन कहते हैं। दोनों जंघाओं पर दोनों पैरों के तल रख कर बैठने का नाम पद्मासन है। इस तरह बैठने से कोई रोग नहीं होता, न विष का ही भय है। पद्मासन करके दोनों अंगूठों को दोनों हाथ पीठ पर से लाकर उनसे पकड़ कर बैठने का नाम 'बद्ध पद्मासन' है।

योनि स्थान को बायें पैर से दबा कर लिंग के ऊपर दाहिने पैर रखने को और भाउंओं पर मन लगाकर जपने का नाम सिद्धासन है।

एड़ियों से उलटी तरह गुदा दबा कर ध्यान लगाने का नाम योगासन है।

बायें पैर की जड़ के नीचे दाहिना पैर रख कर गला और शिर सीधा रखकर ध्यानार्थ बैठने का नाम वज्रासन है।

भूमि में दोनों पैर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के दोनों अंगूठे पकड़े जायँ जानुओं पर शिर रखने पर पश्चिम ताण आसन होता है।

जिस ने आसन पक्के कर लिए उस ने तीनों लोक जीत लिए।

जिस ने प्राणायाम के अभ्यास से वायु वश में कर लिया है उसे गुरु बनाना चाहिए। उन्हीं के उपदेश से प्राणजप करना श्रेष्ठ है।

प्रत्येक मनुष्य की देह अपनी अंगुलियों से छानवे अंगुल होती है। प्राण का मान १०० अंगुल है। देह में स्थित वायु को देह पर की अग्नि से सम वा कम योगमार्ग से करता हुआ ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।

गुद से दो अंगुल ऊपर लिंग से दो अंगुल नीचे देह का मध्य भाग है। यह मनुष्यों का देह के बीच में गर्म सुवर्ण के समान तिकोना अग्नि का स्थान है। मूलाधार से ६ अंगुल तक कन्द स्थान है। वह चार अंगुल लम्बा और उतना ही चौड़ा है। मुर्गे के अण्डे के समान चमड़ा हड्डी युक्त है। उस के बीच में नाभि का स्थान है। वहीं पर बारह कोनों युक्त चक्र है। वहीं विष्णु आदि की मूर्त्तियाँ हैं। "मैं वहाँ अपनी माया सहित चक्र घुमाता हुआ रहता हूँ।" उस की आँतियों पर जीव क्रमशः घूमता रहता है। प्राणादि वायु पर चढ़ा हुआ जीव वहाँ सदा यही व्यापार करता रहता है। उस के ऊपर कुण्डली स्थान है। नाभि से तिरछे ऊपर प्रकृति रूप कुण्डली है। यह सर्पाकार गोल है। वायु अग्नि जब अपना अपना काम करते हैं तब देह की चालन-क्रिया होती है। इसी प्रकार सुषुम्णा वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी हैं, जिन के बाईं ओर ईड़ा, दहिने पिंगला नाड़ी है। गान्धारी हस्तिजिह्वा पूषा यशस्विनी कौशिकी प्रधान नाड़ी हैं। प्राणादि दश वायु अपना अपना काम करते हुए दैहिक क्रियाओं को नियमित रीति से चलाते रहते हैं। यद्यपि आन्तरिक क्रियायें बाह्य गमनागमन रूप प्रत्यक्ष नहीं हैं तथापि मानस व्यापार तब तक चलता रहता है जब तक आसन सिद्धि कर के प्राणायाम सिद्ध नहीं किया जाता। वीरासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन इत्यादि जिस में बैठ कर अनुकूलता हो उसी आसन से बैठ सीधा देह कर के नाक की अग्र भाग को देखता हुआ दाँतों को परस्पर न छूकर जीभ को तालु पर ले जा के मन

को सावधान करे। तब पूरक कुम्भक और रेचक प्राणायाम करना चाहिए। यह क्रिया श्रीगुरु के उपदिष्ट मार्ग से ही हो सकती है।* इसलिए योगज्ञ गुरु जी से ही इस को सीखे। यद्यपि नासिक औंध आदि स्थानों में प्राणायाम सिखाने की शालायें आजकल बनी हैं, तथापि विशेष लाभ वहाँ नहीं देखा जाता।

मुख से कमल का डण्डा लेकर धीरे से जैसा पानी पीते हैं उसी प्रकार १६ मात्राओं से साधारण प्राणायाम पूरक कहाता है। ६५ मात्रा वाला कुम्भक पानी का भरा हुआ घड़ा जिस प्रकार न हिलता न किसी प्रकार का शब्द करता है, ऐसे प्रशान्त वायु की गति को कुम्भक कहते हैं। उदर में भरे हुए वायु को धीरे धीरे बाहर करने की क्रिया रेचक है। इस में ३२ मात्रा उत्तम हैं। पूरक वायु में अलसी के नीले फूल के समान नाभि में स्थित विष्णु भगवान का ध्यान करना चाहिए। कुम्भक में हृदय में रक्त वर्ण कुछ शुभ्र वर्ण चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान होता है। रेचक प्राणायाम में ललाट देश में त्रिनेत्र स्फटिक के समान गोरे वर्ण महादेव जी का ध्यान करे। पहले दिन चार कुम्भक, दूसरे दिन ५, तीसरे दिन १० कुम्भक करे, प्रातःकाल, मध्याह्न, सायङ्काल और आधीरात में कुम्भक कर के ८० तक नित्य कुम्भक प्राणायाम बढ़ सकता है। इस प्रकार ३ महीने में प्राणायाम करने की नाड़ी सरल हो जाती है। इस में देह हलका जठराग्नि प्रदीप्त और नाद वायु का प्रत्यक्ष हो जाता है। थोड़े अभ्यास में पसीना मध्यम में काँपना उत्तम में आसन उठने लगता है। हृदय कमल फूल जाता है। वहाँ परमात्म दर्शन होता है।

(शेष फिर)

*वस्तुतः साधना मार्ग ऐसा है ही नहीं कि कोई पुस्तक पढ़ कर पारंगत हो सके। इन विषयों में बिना सद्गुरु के मार्ग दिखाये, मनमानी करने में लाभ नहीं किन्तु हानि की संभावना है
—सं० पु०

शिव की व्यापकता

(ले०—श्री विन्ध्याचल प्रसाद जी, मोतीहारी।)

आप ही हौ सूर्य सोम आप ही पवन व्योम,
आप ही को जल थल अचल कै मानहीं।
आप ही प्रतापवान अग्नि ह्वै विराजमान,
आप ही को आतमा शरीर-व्यापी जानहीं।
एतनेई माँह है विचार-बुद्धि दृढ़ जाको,
आप को सो याही भाँति पृथक बखानहीं।
पर हमैं ऐसी कोई वस्तु न परति जानि,
शम्भु भगवान अहो आप जौन ठाँ नहीं।

महा शिवरात्रि

(ले०—श्री कु० मदनलाल शर्मा, "श्रीमाली", जोधपुर।)

फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को जो महा शिवरात्रि का व्रत मनाया जाता है वह वैदिक है। अतः पाठकों को इसकी पुष्टि के लिये कुछ वेद मंत्रों को उद्धृत किये देता हूँ।

ॐ नमस्ते रुद्रमन्यवऽउतोत इषवेनमः। बाहुभ्यामुतते नमः। १।

अर्थ—हे रुद्र! (रुतं दुखं द्रावयति यद्वारु गतो ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः रवणं रुत् ज्ञानं भावे की नुगागमः रुत् ज्ञानं राति ददाति रुद्रः ज्ञानप्रदः यद्वा पापिनो नरान् दुःख भोगेन रोदयति रुद्रः) तेरे क्रोध के लिये नमस्कार, तेरे बाण के लिये नमस्कार तथा तेरी बाहुओं को नमस्कार हो। याते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी। तयानस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥ २॥ अर्थात्—हे रुद्र! तेरा यह शरीर इस प्रकार का, हे गिरिशन्त! (गिरौ कैलाशे शेते) कैलाश पर रहने वाले शिव! उस तेरे शरीर से हमको देख। अतः सुदृष्टि कर क्योंकि भगवन् आप अघोर शान्त रूप पापों के नाशक हैं और गिरिशन्त (गिरौ कैलाशे स्थितः सं सुखं प्राणिनां तनोति वा गिरौ मेघे स्थितो वृष्टि-द्वारेण शं तनोति वा गिरौ शेते गिरिशः अयति गच्छन्ति जानातीति सर्वज्ञः) कैलाश पर वास कर प्राणिमात्र को आनन्द देता है।

यामिषुङ्गिरिशन्तहस्ते बिभर्ष्यस्तवे॥ ३॥ हे गिरिशन्त! तूने शत्रुओं को मारने के लिये हाथ में में बाण को धारण किया है।

प्रमुञ्चधन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्चतेहस्तऽइषवः पराताभगवोवप॥

हे भगवः! भगवान (ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ज्ञान वैराग्य योश्चैवषण्णां भग इतीरणा) धनुष की दोनों कोटियों में ठहरी हुई ज्या को आप दूर करो और हाथ में जो बाण है उसको भी दूर करो। नमोहिरण्यबाहवे। सेनान्ये-दिशाञ्चपतये नमोनमोवृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूना-म्पतयेनमोनमो शष्पिञ्जरायत्त्विषीमते पथीनाम्पतये नमोनमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानाम्पतये नमो नमो बब्लुशाय॥ १७॥ स्वर्ण आभूषणों के सदृश हाथ वाले सेनानी रुद्र को नमस्कार, दिशाओं का पालक, हरित वर्ण केश वाला वृक्ष के सदृश जीवों का पालक, पीतरक्त वर्ण वाला, कान्ति वाला, पथिकों का पालक, नील-वर्ण केश वाला अर्थात् जरा रहित, उपवीत ने, (यज्ञोपवीत धारण करने वाला, गुणवान मनुष्यों का स्वामी, इस प्रकार के रुद्र को नमस्कार हो।) नमऽउष्णीषिणे गिरि-चराय॥२२॥—पगड़ी के धारण करने वाले और कैलास पर रहने वाले शिव को नमस्कार हो। आगे चल इसी रुद्री के अध्याय षष्ट में निम्न मंत्र आता है। त्र्यम्बकंयजामहेसुगन्धिपुष्टिवर्द्धनम्।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्।

टीका—**सुगन्धि**--दिव्य गन्ध्योपेतं मर्त्य धर्महीनं। पुष्टि वर्धनं। धन धान्यादि पुष्टेर्वर्धयितारं। त्र्यम्बकं नेत्र त्रयो पेतं रुद्रं। यजामहे पूजयामः। ततो रुद्रप्रसादात् मृत्योर्मुक्षीय अप मृत्योः संसार मृत्योश्च मुक्तो भूयासम्। अमृतान्मा मुक्षीय स्पर्श रूपान्मुक्ति रूपाश्चामृतान्मा मुक्षीय मुक्तो माभूयासम्। उर्वारुकमिव बन्धनादिति यथा उर्वारुक फलमत्यन्त पक्कम्। सत्वध्नात् स्वस्य वृन्तात् प्रमुच्यते तद्वत्। अर्थ—सुगन्ध और पुष्टि वर्धन वाले शिव को हम पूजते हैं। उस रुद्र के पूजने से हम उस प्रकार मुक्त हो जायँ जिस प्रकार पका हुआ फल डाल से टूट कर अनायास गिर जाता है, उसी प्रकार अनायास हम बन्धन से छूट जायँ। उपरोक्त प्रमाणों से यह निश्चय हुआ कि "शिवरात्रि" एक वैदिक त्यौहार है। क्योंकि शिवरात्रि के चरित्रनायक शिव यह वैदिक देवता हैं। इसी प्रकार चारों संहिताओं में महादेव के प्रतिपादन के अनेक मंत्र हैं। शिवरात्रि की चतुर्दशी को प्रदोष व्यापिनी लेना उत्तम है। रात्रि में जागरण कर षोड़शोपचार से महादेव का पूजन करे (आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दक्षिणा, आरती और प्रदक्षिणादि) (प्रदोष व्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिश्चतुर्दशी–रात्रौ जागरणं यस्मात् तस्मात्तां समुपोषयेत्॥) तत्पश्चात् कथा करे।

कथा—यह कथा लिंगपुराण के आधार पर है। इसके तात्त्विक रहस्य को देखिये। यह धर्म एवं नीति के सम्बन्ध में अनेक शिक्षायें देता है।

एक वार कैलाश पर बैठी हुई पार्वती ने महादेव जी से पूछा, "भगवन्! ऐसा कौन सा व्रत है, जिसके करने से मनुष्य आप के सायुज्य को प्राप्त हो जाय।" भगवान् शंकर ने उत्तर दिया कि, "फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को व्रत कर, मेरा पूजन करके जागरण करे, वह अनायास मेरी सायुज्यता को प्राप्त होता है। पार्वती इस विषय पर एक कथा कहता हूँ सो तुम सावधान होकर श्रवण करो।

"प्रत्यन्त देश में एक व्याध रहता था। उसका और उसके कुटुम्ब का जीवन शिकार पर ही था। फाल्गुन-कृष्ण त्रयोदशी के दिवस इसको क़र्ज़दार साहूकार ने रुपया न देने के कारण एक देव मंदिर में क़ैद कर दिया। व्याध इस दिन धर्म एवं व्रत-सम्बन्धी बातों को एवं दूसरे दिन होने वाले शिवरात्रि के व्रत की कथा भी सुनी। साहूकारने यह कह कर "कि कल हमारे रुपयों का फैसला कर देना" छोड़ दिया। नियमानुसार चतुर्दशी के प्रातःकाल दक्षिण की ओर भटकने पर भी कोई बध के लिये पशु न मिला।—अतः खिन्न हो कर वह एक जलाशय के समीप बैठ गया। इस स्थान पर वधिक लोगों ने एक सुन्दर नाला बाँध रक्खा था। वह व्याध उसी नाले में बैठ गया। उस नाले में एक पिंडी महादेव की थी और एक विल्वपत्र का वृक्ष। अपने सुभीतार्थ व्याध ने विल्वपत्रों को तोड़ कर महादेव के लिंग को ढक दिया। एक तो वह दिन भर का अर्थात् व्रती दूसरे महादेव पर विल्व पत्रों को चढ़ाया, इस कारण इसकी वृत्तियों में कुछ परिवर्तन हो गया। एक पहर रात बीतने पर एक सगर्भा हरिणी वहां जलपानार्थ आई। देखते ही व्याध ने धनुष का अनुसंधान किया। हरिणी ने उत्तर दिया, "प्रभो! मैं सगर्भा हूँ और नव मास भी व्यतीत हो गये हैं; मुझको इस अवसर पर छोड़ देंगे तो प्रसूत बालक को उनके पिता को देकर मैं आपके स्थान पर

उपस्थित हो जाऊँगी। यदि न आऊँ तो कृतघ्नी को जो पाप लगता है वह मुझको लगे।" अतः व्याध ने हरिणी को छोड़ दिया और शिव शिव करते२ द्वितीय जन्तु की प्रतीक्षा करनी आरम्भ की। दैवात् अत्यन्त सुन्दरी, नवयौवना मृगी आई, जिसको देखते ही व्याध ने बाण का अनुसंधान किया। बाण को छोड़ने न पाया था कि वह बोली, "स्वामी! रक्षा करो। मैं इस समय निवृत ऋतु वाली हूँ। पति से न मिलने पर चित्त में अभिलाषा रह जायगी। अतः कल उपस्थित हो जाऊँगी। यदि न होऊँ तो ब्रह्मा एवं सुरापी को जो पाप लगता है, वह मुझे लगे।" इन आर्तशब्दों पर व्याध ने इस हरिणी को छोड़ दिया और अब अन्य तीसरे जंतु की तलाश करने लगा। अकस्मात् तीन चार छोटे बच्चों को लेकर एक हरिणी वहां आ गई। व्याध के धनुष पर बाण चढ़ाने के पूर्व ही हरिणी आर्तस्वर से बोली, "भगवन! ऐसा न करो, धर्म विचारो। आपने मुझ से प्रथम आने वाले जीवों को तो नहीं मारा और मुझे और मेरे बच्चों को मार कर अपयश क्यों लेते हो? आपने धर्मशास्त्र का अवलोकन नहीं किया है। कारण, धर्मशास्त्र में छोटे२ बच्चों की माता को सती होना महापाप बतलाया है। मैं इन बच्चों को पिता के यहाँ पहुँचा प्रातःकाल आप ही उपस्थित हो जाऊँगी। यह मैं शपथपूर्वक कहती हूँ।" व्याध पर शिवरात्रि का इतना प्रभाव पड़ गया था कि उसने इस हरिणी के कथन पर भी विश्वास कर लिया और हरिणी चली गई। इतने में प्रातःकाल हो गया और एक हिरण आया। व्याध ने सोचा कि इसको तो मार ही लूँगा। उसने बाण का अनुसन्धान किया। यह देख कर बड़ी सरलता से मृग बोला, "व्याध! यदि मेरे प्रथम आने वाली हिरणियों को आपने मार डाला है तो निश्चय ही मेरे सब मनोरथों पर पानी फिर गया और मेरा जीवन भी सर्वथा निरर्थक हो गया। अतः कृपा कर मुझको भी अचिर-काल में ही आप मार डालें, जिससे उन मृत-हिरणियों का कष्ट मुझ को न हो।" व्याध ने इसकी प्रेममय एवं पाण्डित्य युक्त वाणी को श्रवण कर उन हिर-णियों को जिस प्रकार मुक्त किया था, वह समस्त वृत्तान्त सुना दिया, जिस पर हिरण ने उत्तर दिया, "महाराज वे तीन हिरणियाँ मेरी ही भार्या थीं और मेरी ही खोज में गई हैं। यदि आप मुझको यहाँ मार डालेंगे, तो वे जिस उद्देश्य से गई हैं वह उद्देश्य तो उनका विफल ही होगा। अतः जिस धार्मिक भाव से आप ने उन निरापराध को सत्य मान कर उनको मुक्त किया है उसी भाव से मुझ को मुक्त कर दो तो मैं उन सब से मिलकर और सबको साथ लेकर अचिरकाल में ही आपके स्थान पर आ जाता हूँ।" शिवरात्रि के प्रभाव से इसके हृदय में विशेष कोमलता आ गई अतः उसने इसको भी मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् प्रातःकाल होते ही व्याध ने फिर बिल्वपत्र चढ़ाये जिससे उसके अन्तःकरण में एक साथ सत्त्वगुण का विकाश हो गया और निश्चय कर लिया कि यदि अब वे हिरण आ भी गये तो मैं उनके बध-रूप गर्हित-कर्म को कभी न करूँगा। उधर वह हिरण अपने कुटुम्ब में जा सब हिरणियों एवं उनके बच्चों सहित व्याध के सम्मुख उपस्थित हो गया। व्याध ने इन पशुओं में भी सत्यव्रत के प्रभाव को देख कर अपने मनुष्य-जीवन को घृणित समझा और धार्मिक वृत्तियों के जागृति होने से वह व्याध कातर होकर रोने लगा। इस प्रकार पारस्परिक धर्म-वृत्तियों की चरम समागत उन्नति को देखकर महादेव ने अपने शिवलोक से एक विमान व्याध के लिये और एक हिरण एवं हिरणियों के लिये भेज

कर उन सब को शिव-सायुज्यता के लिये प्राप्त कराया। पार्वति! यह सब प्रभाव महाशिवरात्रि के व्रत का है। अतः मेरी सायुज्य चाहने वाले पुरुष का यह अवश्य कर्तव्य है। तत्पश्चात् दूसरे दिवस इस का उद्यापन करें। इस व्रत को चाहे शिव का उपासक हो, चाहे विष्णु जी का भक्त हो, अथवा अन्य देवों का सेवक हो, सभी करें:—

"शैवो वा वैष्णवो वापि यो वास्यादन्य-पूजकः,
सर्वे पूजा-फले हन्ति शिव-रात्रि वहिर्मुखः।"

अन्यथा इसके "शिवं विना सिध्यति किं मनोरथः।" अर्थात् विना शिव-उकार के "उकारः शङ्करः प्रोक्तः" मनोरथ शब्द की सिद्धि क्या हो सकती है, कदापि नहीं। अतः शङ्कर जी की कृपा के विना कोई भी अभीष्ठ फल नहीं प्राप्त हो सकता। शिवरात्रि व्रत नाम सर्वपाप-प्रणाशनम् आचाण्डाल-मनुष्याणां युक्तिमुक्तिप्रदायकम्।

भारतवर्ष के सब प्रान्तों में महादेव जी के प्रसिद्ध २ बारह मंदिर हैं।

१—प्रभास पट्टन में सोमनाथ का मंदिर।
२—श्री शैल्य में मल्लिकार्जुन का।
३—उज्जयिनी नगरी में महाकाल का।
४—नर्मदा के किनारे पर ओंकार मान्धाता का।
५—हिमालय में केदारेश्वर का।
६—डाकिनी वन में भीमाशंकर का।
७—श्री क्षेत्र काशी में विश्वनाथ का।
८—नासिक में त्र्यम्बकेश्वर का।
९—चिताभूमि में परानी वैजनाथ का।
१०—दारुक वन में नागनाथ का।
११—सेतुबन्ध पर रामेश्वर का और
१२—बेरुव में घृष्णेश्वर का।

इन द्वादश प्रसिद्ध मंदिरों के अतिरिक्त विभिन्न देशों में और भी अनेक मंदिर हैं।

जिस प्रकार विष्णु, देवी, गणपति उपासना में कितने ही पंथ हैं इसी प्रकार से शैव सम्प्रदाय में वाममार्ग, अघोरी पंथ, परमहंस, लिंगायत, सरभंगी, पाशुपत, लाकुलिन, कौल, कापाल, कालामुख, वीर-शैव और शैव अनेक पन्थ हैं। इस में से कालानुसार कितने ही पन्थों का लय हो जाने पर भी अनेक पन्थ अब-तक भारत में प्रचलित हैं। ऐसा विदित होता है इन सम्प्र-दायों का नाम कर्कश होने पर भी प्राचीन कालमें ये किसी अच्छे उद्देश्य को लेकर हुए थे। किन्तु वे लोग पवित्र उद्देश्य को तो भूल गये और अनाचार जनित क्रिया में संलग्न हो गये। जिससे संसार में उनका स्थिर रहना कठिन हो गया। उनमें से केवल एक "सरभंगी" पन्थ को देखकर मालूम होता है कि इस पन्थ वाले मूत्र पुरीष को ही अपना परम साधन समझते हैं। किन्तु प्राचीन काल में ऐसा कदापि नहीं था। कारण पिता की आज्ञानुसार वन को जाते हुये भगवान् रामचन्द्र जी को चित्रकूट के आगे सरभंग ऋषि का भी आश्रम मिला है और स्वयं भगवान् उनके स्थान पर पधारे थे। यदि उस समय आज के सरभंगियों की सी व्यवस्था होती तो धर्म के आदर्श रूप मर्य्यादा-पुरुषोत्तम न तो सरभंग के आश्रम पर पधारते न उनके नाम के साथ ऋषि शब्द का प्रयोग ही होता। वैसे ही अन्य पन्थों का दुरुपयोग हो रहा है। वास्तव में एक शक्ति के ही तीन नाम एवं औपाधिक भेद हैं। तीन वस्तुयें नहीं। इसको श्री मद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में इस प्रकार से स्पष्ट कर दिया है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः।
परः पुरुष एक इहास्य धत्ते स्थित्यादये हरिविरंचि हरेति संज्ञाः॥
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः।

"सत्त्वगुण, तमोगुण और रजोगुण ये प्रकृति के तीनों गुण हैं। रजोगुण जगत् का सृजन करता है। तमोगुण जगत् का लय करता है और सत्त्व-गुण पालन करता है। रजोगुण के साथ रहने वाली ब्रह्म सत्ता को ब्रह्मा, सत्त्वगुण के साथ रहने वाली ब्रह्म सत्ता को विष्णु और तमोगुण के साथ की सत्ता को शिव कहा जाता है। "पुरुष एक इहस्थ धत्ते"-इससे स्पष्ट है कि तीन गुणों में रहने वाली एक ही सत्ता है। जिसको ब्रह्म कहते हैं।

सारांश-महादेव ब्रह्म ही हैं। जब महादेव ब्रह्म हैं तो जीव का असाधारण कर्त्तव्य हो गया कि वह शिवरूप ब्रह्म की उपासना करे। उपासकों के लिए शिवरात्रि से बढ़ कर और ऐसा कौन सा अवसर होगा जब अपने सेव्य की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो। कारण मनुष्य मात्रका धर्म है कि महा शिव-रात्रि का यथाशास्त्रव्रता-चरण करे।

ईश्वरीय व्यापकता

(ले०-श्री० पं० राघवेन्द्र शर्मा त्रिपाठी, 'ब्रजेश'।)

बालक के मन्द मृदु हास मैं बिलास मैं त्यों,
वारिज विकाश मैं गुनी के गुन गान मैं।
ओस जल बुन्दन मैं चमकत कुन्दन मैं,
भानु मैं कृसानु मैं कलानिधि कलान मैं।
सन्त मैं बसन्त मैं लसन्त सब तन्त मैं तू,
अन्त मैं अकाश मैं अवनि अवसान मैं।
वेद मैं विभेद मैं 'ब्रजेश' विश्व बीच तेरी,
व्यापकता देखी बिभो विधि के विधान मैं।
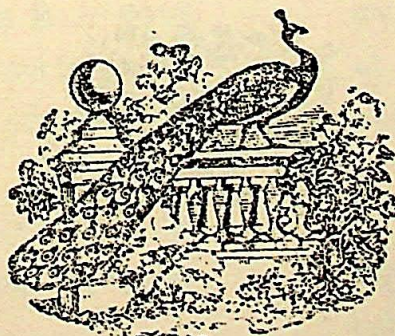
श्री शंकर वन्दना

(ले० श्री साहित्यरत्न शिवनारायण भारद्वाज, 'नरेन्द्र'।)

दोहा—शम्भु-चरण युग वन्दि के, गौरी गणपति ध्याय।
वरणों शंकर वन्दना, निज लघु मति जस आय॥

चौ०—जय महेश जय जग-सुखकारी। गिरिजा पति दीनन हितकारी।
शीश चन्द्र शुभ गंग विराजे। कर त्रिशूल वर डमरू साजे॥

ललित ललाम लसत वर कुंडल। रूप लखत लाजत विधुमंडल।
मोहत मन त्रिपुण्ड त्रिपुरारी। नीलकंठ छवि लागत प्यारी॥

छत्र मुकुट भुज वन्द नागके। दरश अंकहर अशुभ भाग के।
मन्द हसन तन भस्म रमाई। भंग तरंग नैन अरुणाई॥

मुण्ड-माल बाघम्बर धारे। उपमा कह न सकत कवि हारे।
वाम अंग जग-मातु सुहाई। गोद गणेश्वर हैं सुखदाई॥

नन्दि आदि गण सेवत सारे। जयति शम्भु जय वचन उचारे।
सो प्रभु करहु कृपा सुख-सागर। जासु दया जग माँहि उजागर॥

जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमांजलि

ले०—श्री द्वारका प्रसाद शुक्ल "शंकर"।

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं,
गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं,
तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥६॥

अन्वयः—यत् महः सत्, अक्षरम्, ओम् इति परम् पदम्, गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् हृदि अनाहतम् दन्ध्वनीति, उरसि स्फुरत्, तत् उपास्महे।

भावार्थः—हम परमेश्वर के उस सब से परे और कभी भी न बदलने और कम होनेवाले तेजमय रूप (महः) की उपासना करते और उस को भजते हैं, जिस की सत्ता अनादि और सनातन है, जिस का ओम्-कार वाचक है किन्तु कब से कहा और कैसे हुआ और है यह नहीं जाना जा सक्ता। उसी अकार उकार और मकारात्मक पद में वाणी के द्वारा बोध होने वाले चौदहों विद्याओं का ज्ञान गर्भस्थित की तरह मौजूद है। उसकी ध्वनि बिना किसी की प्रेरणा या उच्चारण के हृदय के आकाश में होती रहती है और सुनी जाती है। उसका स्फुरण हृदयाकाश से उठ कर वक्षस्थल में स्फुरण करता है जहाँ उसका यह फड़कना अनुभव किया जाता है।

विशेषः—इस श्लोक में लाइट (light), मोशन (motion) और साउंड (sound), रूप क्रिया और शब्द से ओम् तत्सदिति निर्देश्य परमात्मा के ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन त्रिशक्तियों को बड़ी सुन्दरता और कुशलता से ध्वनित किया है। इस का आनन्द और सुख मर्मज्ञों के ही अनुभव की चीज़ है। भगवान् शिव का गर्भत्व तो श्री जगद्धर भट्ट जी ऐसे शिव-तत्त्व के जानने वाले परम माहेश्वरों के बूझने की पहेली है।

इस श्लोक को तन्मय हो कर कहना ही इस के जौहरों का अनुभव करा देगा।

इस श्लोक में एक और मार्के की बात है। अत्यंत उत्कृष्ट और प्रबल भक्ति की लहरों में कलोल करते हुए अपने को भगवान् शिव से अभिन्न अनुभव करने के प्रभाव की उफान में अपने को प्रशंसनीय मानने के कारण श्री जगद्धर जी ने 'उपासे', एकवचन क्रिया के स्थान में 'उपास्महे' बहुवचन क्रिया का जो प्रयोग किया है वह अपना अनूठा ही रंग और स्वाद रखता है। इसी आनन्द में मत्त श्री जगद्धर जी ने

"स्तुति कुसुमाञ्जलि" में ऐसे ही अनेक स्थलों में एकवचन की जगह बहुवचन का प्रयोग किया है।

श्री जगद्धर जी ने भगवान् शंकर के ओम्-कार रूप शब्दब्रह्म अनाहत (अनहद) शब्द की वन्दना इस श्लोक में की है—

भानुना तुहिनभानुना बृहद्भानुना च
विनिवारितं न यत्।
येन तज्झगिति शान्तिमान्तरं,
ध्वान्तमेति तदुपास्महे महः ॥७॥

अन्वयः—यत् आन्तरम ध्वान्तम् भानुना, तुहिन भानुना बृहद्भानुना च न विनिवारितं तत् येन झगिति शान्तिम् एति तत् महः उपास्महे।

भावार्थः—हृदय के भीतर का अविद्यामय अंधकार जिसको सूर्य, चन्द्रमा, और अग्नि ऐसे प्रकाशपुंज दूर नहीं कर पाते उसे जो परम ज्योति यकायक सदा के लिये दूर कर देती है उस दिव्य तेज की हम उपासना करते हैं। सूर्य चंद्रमा अग्नि तारागण और विजली के रोशनी से हटाया हुआ सामान्य अंधकार भी बार बार प्रकट होता नित्य ही देखा जाता है; किंतु अविद्यामय, अज्ञान का असाधारण अँधेरा उस परम ज्योति से ही दूर होता है और ऐसा दूर होता है कि फिर नहीं उत्पन्न होता। जो अंधकार किसी चीज के अंदर बंद रहता है वह सूर्यादिक उपरोक्त प्रकाशकों से कभी दूर ही नहीं होता किंतु उस परम ज्योति की यह विशेषता है कि वह हृदय के अन्दर के अज्ञानतिमिर को ऐसा दूर कर देती है कि वह वहाँ नहीं लौटता क्योंकि वह नष्ट ही हो जाता है।

विशेषः—इस श्लोक में 'झगिति' शब्द में उस परम ज्योति की झलक और उसके पढ़ने से उत्पन्न होने वाली रुचिकर झझक इस शब्द के उच्चारण करते ही प्रत्यक्ष हो जाती है।

इसी परम ज्योति (महः) के लिये श्रुति भगवती कहती है:—

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारका,
नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति।

कीचकादि कुहरेष्विवाम्बरं बिम्बमम्बरमणेरिवोर्मिषु।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा यच्चकास्ति तदुपास्महे महः॥

अन्वयः—यत् महः एक एव कीचकादि कुहरेषु अम्बरम् इव, अम्बर मणेः बिम्बम् उर्मिषु इव चिदचित्सु अनेकधा चकास्ति तत् उपास्महे।

भावार्थः—हम उस अद्वितीय परम प्रकाश की उपासना करते हैं जो एक होते हुये भी सम सा जड़ चेतन में वैसा ही विद्यमान होकर चमक रहा है जैसे एक ही विस्तृत आकाश बाँस ढोल, भेरी आदि पोली वस्तुओं में, और सूर्य का बिम्ब लहरों में अनेकों प्रकार और रूपों से रहता और चमकता है।

तर्ककर्कशगिरामगोचरं स्वानुभूति समयैकसाक्षिणम्।
मीलिताखिलविकल्पविप्लवं पारमेश्वरमुपास्महे महः
॥ ६ ॥

अन्वयः—स्पष्ट है

भावार्थः—हम परमेश्वर के उस परम प्रकाश की उपासना करते हैं जिसके सामने
'किमीहः किंकायः सखलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो किमुपादानम् सृजति'
इन कर्कश और कर्णकटु कुतर्कों की आंखें उसी प्रकार बंद होजाती हैं जैसे सूर्य के प्रकाश के सम्मुख उलूकों की और वे उसके दिव्य और पावन दर्शन कभी नहीं कर पाते क्योंकि वह तो ऐसी वाणी और मन वालों की पहुँच के बाहर है। वह तो उसकी कृपा से ही उसी समय जब कि वह अपनी छटा का अनुभव कराता है, जाना जाता है। उसके प्रत्यक्ष होते ही सब तर्क, वितर्क, ऊहापोह और अनेक प्रकार की भ्राँतियों से हृदय में मची हुई गड़बड़ उसी तरह शांत होजाती है जिस तरह दिन में उलूकों का कर्कश कड़कड़ाना बंद होजाता है।

महिम्न-गान

(अनुवादक—श्री विन्ध्याचल प्रसाद वकील, मोतीहारी।)

अकल अनीह निराकार निर्विकार हर,
महिमा अपार तेरी सब ही पुकार कहै।

बानी ब्रह्म आदि की न पूरन सकै बखानि,
मानुस कथन थोरो कैसे योग्यता लहै।

ताहू पै अनेक जन मति-अनुसार यश,
गावत तिहार पै विकार कोऊ न गहै।

अस जिय जानि हौं हूँ कछु गुन-गान करौं,
आश धरौं मेरी हू या विनै अदोष रहै ॥१॥

"स्तुति कुसुमाञ्जलि" में ऐसे ही अनेक स्थलों में एकवचन की जगह बहुवचन का प्रयोग किया है।

श्री जगद्धर जी ने भगवान् शंकर के ओम्-कार रूप शब्दब्रह्म अनाहत (अनहद) शब्द की वन्दना इस श्लोक में की है—

भानुना तुहिनभानुना बृहद्भानुना च
विनिवारितं न यत् ।
येन तज्झगिति शान्तिमान्तरं,
ध्वान्तमेति तदुपास्महे महः ॥७॥

अन्वयः—यत् आन्तरम ध्वान्तम् भानुना, तुहिन भानुना बृहद्भानुना च न विनिवारितं तत् येन झगिति शान्तिम् एति तत् महः उपास्महे ।

भावार्थः—हृदय के भीतर का अविद्यामय अंधकार जिसको सूर्य, चन्द्रमा, और अग्नि ऐसे प्रकाशपुंज दूर नहीं कर पाते उसे जो परम ज्योति यकायक सदा के लिये दूर कर देती है उस दिव्य तेज की हम उपासना करते हैं। सूर्य चंद्रमा अग्नि तारागण और विजली के रोशनी से हटाया हुआ सामान्य अंधकार भी बार बार प्रकट होता नित्य ही देखा जाता है; किंतु अविद्यामय, अज्ञान का असाधारण अँधेरा उस परम ज्योति से ही दूर होता है और ऐसा दूर होता है कि फिर नहीं उत्पन्न होता। जो अंधकार किसी चीज के अंदर वंद रहता है वह सूर्यादिक उपरोक्त प्रकाशकों से कभी दूर ही नहीं होता किंतु उस परम ज्योति की यह विशेषता है कि वह हृदय के अन्दर के अज्ञानतिमिर को ऐसा दूर कर देती है कि वह वहाँ नहीं लौटता क्योंकि वह नष्ट ही हो जाता है।

विशेषः—इस श्लोक में 'झगिति' शब्द में उस परम ज्योति की झलक और उसके पढ़ने से उत्पन्न होने वाली रुचिकर झझक इस शब्द के उच्चारण करते ही प्रत्यक्ष हो जाती है।

इसी परम ज्योति (महः) के लिये श्रुति भगवती कहती है:—

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारका,
नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति ।

कीचकादि कुहरेष्विवाम्बरं बिम्बमम्बरमणेरिवोर्मिषु ।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा यच्चकास्ति तदुपास्महे महः॥

अन्वयः—यत् महः एक एव कीचकादि कुहरेषु अम्बरम् इव, अम्बर मणेः बिम्बम् उर्मिषु इव चिदचित्सु अनेकधा चकास्ति तत् उपास्महे ।

भावार्थः—हम उस अद्वितीय परम प्रकाश की उपासना करते हैं जो एक होते हुये भी सम सा जड़ चेतन में वैसा ही विद्यमान होकर चमक रहा है जैसे एक ही विस्तृत आकाश बाँस ढोल, भेरी आदि पोली वस्तुओं में, और सूर्य का बिम्ब लहरों में अनेकों प्रकार और रूपों से रहता और चमकता है।

तर्ककर्कशगिरामगोचरं स्वानुभूति समयैकसाक्षिणम्।
मीलिताखिलविकल्पविभ्रवं पारमेश्वरमुपास्महे महः
॥ ६ ॥

अन्वयः—स्पष्ट है

भावार्थः—हम परमेश्वर के उस परम प्रकाश की उपासना करते हैं जिसके सामने 'किमीहः किंकायः सखलु किमुपायस्त्रिभुवनं किमाधारो किमुपादानम् सृजति' इन कर्कश और कर्णकटु कुतर्कों की आंखें उसी प्रकार बंद होजाती हैं जैसे सूर्य के प्रकाश के सम्मुख उलूकों की और वे उसके दिव्य और पावन दर्शन कभी नहीं कर पाते क्योंकि वह तो ऐसी वाणी और मन वालों की पहुँच के बाहर है। वह तो उसकी कृपा से ही उसी समय जब कि वह अपनी छटा का अनुभव कराता है, जाना जाता है। उसके प्रत्यक्ष होते ही सब तर्क, वितर्क, ऊहापोह और अनेक प्रकार की भ्राँतियों से हृदय में मची हुई गड़बड़ उसी तरह शांत होजाती है जिस तरह दिन में उलूकों का कर्कश कड़कड़ाना बंद होजाता है।

महिम्न-गान

(अनुवादक—श्री विन्ध्याचल प्रसाद वकील, मोतीहारी।)

अकल अनीह निराकार निर्विकार हर,
महिमा अपार तेरी सब ही पुकार कहै।

बानी ब्रह्म आदि की न पूरन सकै बखानि,
मानुस कथन थोरो कैसे योग्यता लहै।

ताहू पै अनेक जन मति-अनुसार यश,
गावत तिहार पै विकार कोऊ न गहै।

अस जिय जानि हौं हूँ कछु गुन-गान करौं,
आश धरौं मेरी हू या विनै अदोष रहै ॥१॥

मन के प्रति

(ले० श्री पं० चन्द्रशेषर जी शुक्ल, मिरजापुर।)
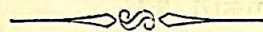
यदि मैं तेरे लिये विनाश्य कहके न समझा जाऊँ और यदि तू मेरे संग इसी तरह नित्य विहार करना चाहे, तो अनर्थक मुझे लोभ में आसक्त न कर। तू ने बारम्बार जिन द्रव्यों को सञ्चय किया था, वे सब नष्ट हुये हैं। फिर भी तू उसी में दत्त चित्त रहा करता है।

रे मूढ़ चित्त! तू कब धन की अभिलाषा को परित्याग करेगा? हाय! मेरी कैसी मूर्खता है—मैं अब तक भी तेरा विलास-भाजन हो रहा हूँ! मनुष्यों के बीच में कोई ऐसा, जो कभी कामना की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है, न होगा। मैं इस समय सब कामनाओं को त्याग कर मोहनिद्रा को विसर्जन करके जाग्रत हुआ हूँ। हे वासना! मैं तुम्हें तथा तुम्हारी जो कुछ प्रिय वस्तु है उन्हें भी जानता हूँ। मैं तुम्हारी प्रिय कामना करते हुये आत्मसुख-भोग करने में समर्थ नहीं होता। सङ्कल्प से तेरा जन्म हुआ है, अतः सङ्कल्प ही तेरा मूल है—यह भी मुझ से छिपा नहीं है। मैं समस्त सङ्कल्पों को परित्याग करूँगा जिससे तू जड़ के सहित नष्ट होगी। धन की लालसा से सुख लाभ नहीं होता। उसके प्राप्त होने पर भी बहुत सी चिन्ता हुआ करती है। प्राप्त धन के नष्ट होने से मृत्यु के समान दुःख होता है। जो हो। इस समय मैं मोहनिद्रा से रहित हुआ हूँ।

अतः, हे वासना! तू मुझे परित्याग कर। अथवा जब तूने मेरे इस पञ्च भौतिक शरीर का आश्रय लिया है तब मेरी इच्छानुसार यथा-सुख निवास कर। अरी वासना! तू काम की अनुगामिनी हुआ करती है। इसी लिये तेरे ऊपर मेरी प्रीति नहीं है। मैं सब कामना परित्याग करके सतोगुण अवलम्बन करूँगा और सब प्राणियों में आत्मा को देखते हुये योग विशेष में चित्त लगा कर-परब्रह्म में मन स्थिर कर-निरामय आसक्तिहीन-सुखी होकर संसार में इस प्रकार रमण करूँगा जिससे तू मुझे फिर दुःख-समुद्र में न डुबा सकेगी।

रे काम! तू बालक की भाँति मूर्ख है। किसी से भी तुष्ट नहीं होता। अग्नि की भाँति किसी प्रकार तुझे परिपूर्ण नहीं किया जा सकता। तू दुर्लभ और सुलभ कुछ भी नहीं जानता। पाताल की भाँति दुष्पूर्ण होके मुझे दुःख-युक्त करना चाहता है। हे काम! अब तू फिर मेरा आश्रय न कर सकेगा। मैं वैराग्य अवलम्बन कर परम सुख प्राप्त करके अब काम्य वस्तुओं की इच्छा नहीं करता। मैंने इसके पूर्व अत्यंत क्लेश सहा है। इस समय हानि-लाभ से छुटकारा पाकर सब तरह से क्लेश-रहित हो कर सुख से सोता हूँ। हे काम! मैं मन की समस्त वृत्तियों को त्याग कर तुझे भी परित्याग करता हूँ। तू अब फिर मेरे सङ्ग अनुरक्ति तथा निवास मत करना।

जो मेरी निन्दा किया करते हैं, मैं उनसे प्रेम करूँगा। दूसरे यदि मेरी हिंसा करें तो मैं उनके साथ प्रतिहिंसा का व्यवहार नहीं करूँगा। मेरे विषय में

यदि कोई विद्वेष प्रकट करतेहुए अप्रिय वचन कहे तो मैं उसके उन वचनों का विचार न करके, उसे प्रिय वचन कहके सन्तुष्ट करूँगा। मैं तृप्ति-युक्त होकर यथाप्राप्त वस्तुओं से जीवन बिताते हुए तुझ आत्मशत्रु को अपना कर फिर सकाम नहीं बनूँगा। अब सत्वगुणावलम्बी होकर मुक्ति-मार्ग में प्रस्थान करता हूँ। इसलिये काम-क्रोध-लोभ-तृष्णा और दीनता मुझे परित्याग करें। मैं काम और क्रोध को त्याग के सुखी हुआ हूँ। जो सदा काम के वश में रहते हैं, वे केवल दुःख भोग करते हैं। मैं ग्रीष्म-ऋतु में ठण्डे तालाव में प्रवेश करने की भाँति इस समय परब्रह्म में प्रविष्ट हुआ हूँ। सब कर्मों की आसक्ति से मुक्त होकर दुःख-रहित हुआ हूँ। निर्विकार सुख मात्र ही मेरे समीप स्थित है। लोक में जितने सुख महत् हैं वे सब तृष्णा क्षयरूपी सुख के शतांश के भी सामान नहीं हैं। मैं उस सब अनर्थों का मूल-स्वरूप परम शत्रु काम का नाश कर अविनश्वर ब्रह्मपुर पाकर राजा की तरह सुखी हुआ हूँ।

शिव तत्त्व

(लि०—प्रो० श्री जनार्दन मिश्र एम० ए०, साहित्याचार्य, पटना।)

वर्त्तमान समय में हम शिव और शंकर आदि में कुछ भेद नहीं समझते हैं, पर अनुसंधान से यह पता लगा है कि शिव नाम ओम् Om वैदिक है और शंकर कोई अनार्य देवता थे। कालक्रम से इन सबों को एक साथ सम्मिलित कर दिया गया। मोहन-जे-दारों की खुदाई में एक योगी-मूर्त्ति मिली है। अनुमान किया जाता है कि यह शंकर की मूर्त्ति है और ये प्राचीन अनार्य देवता हैं। वैदिक देवताओं में भूत-प्रेत नहीं पाये जाते, और न प्रधान देवताओं के साथ वे पार्षदों के रूप में ही वर्त्तमान हैं। इस से भी अनुमान है कि शंकर अवैदिक देव हैं। ब्रह्मपुराण में कुछ श्लोक मिलते हैं जिस से इस अनुमान की पुष्टि होती है। दक्ष प्रजापति यज्ञ कर रहे हैं। वे शंकर को भाग देना नहीं चाहते। वे कहते हैं:—

> सन्ति मे बहवो रुद्राः शूलहस्ताः कपर्दिनः।
> एकादश स्थानगता नान्यं विद्मो महेश्वरम्॥

"शूल और जटाजूट धारण करने वाले मेरे बहुत से रुद्र हैं, महेश्वर को हम नहीं जानते। उन रुद्रों के साथ उन्हें भाग नहीं मिलेगा।" इस पर दधीचि ऋषि उन्हें समझाते हैं और धमकाते हैं:—

> सर्वेषामेक मन्त्रोयं, ममेशो न निमन्त्रितः।
> यथाहं शंकरादूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम्॥
> तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति॥
> ३१-३२

"सब की यही सलाह है और सर्वसम्मति से ही मेरे ईश आमन्त्रित नहीं हुए। शंकर से बढ़ कर मैं किसी देवता को नहीं देखता। जो हो, दक्ष की यदि ऐसी इच्छा है तो इस विपुल यज्ञ

सम्मान द्वारा भी दक्ष यज्ञ न कर सकेंगे। हम यज्ञ न होने देंगे।" इस के बाद दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की कथा सभी जानते हैं। इससे बोध होता है कि असुर भी बड़े सभ्य थे। उनकी धार्मिक भावनायें आर्यों के साथ सम्मिलित हो रही थीं, किन्तु स्वाभिमानी आर्य-गण उन्हें अपने में सम्मिलित होने देना नहीं चाहते थे। इस पर आर्य-असुर अथवा देवासुर संग्राम हुआ, दक्ष की हार हुई और अनार्य देवताओं को भी यज्ञ-भाग मिला। मैंने "देवताओं का" लिखा है, पर अन्यान्य अनार्य देवताओं का इतिहास देने का यह उपयुक्त अवसर नहीं है। शङ्करमत के प्राचीन इतिहास की ओर सङ्केत मात्र है।

सर जौन मार्शल ने हिस्टोरिकल क्वाटर्ली में लिखा है कि शैवमत संसार के प्राचीनतम मतों में से एक है। पौराणिक कथाओं में भी पाया जाता है कि विशेषतः असुरगण ही शंकर के आराधक थे। इस से भी इन का अवैदिक होना ही प्रमाणित होता है।

*दार्शनिक-सिद्धान्त भारतीय सभ्यता और धर्म की जड़ है। इन्हीं सिद्धान्तों का अवलम्बन कर हिन्दू देवी-देवताओं का स्वरूप निश्चित किया गया है। जो वेदान्ती हैं वे ब्रह्म की उपासना कर मुक्ति के अधिकारी होते हैं और जो लोग उतने ऊँचे उठे हुए नहीं हैं वे मूर्त्ति और चित्रों द्वारा ही आराधना कर उसकी ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार वेदान्ती और मूर्तिपूजक दोनों ही समान रूप से साधु हैं। कोई न धोखा खाते हैं और न देते हैं। संसार के किसी धर्म का ऐसा वैज्ञानिक स्वरूप नहीं है। यह हिंदू धर्म की ही विशेषता, विचित्रता और सौन्दर्य है।

मैं इस सिद्धान्त और स्वरूप के क्रम-विकाश का इतिहास न देकर केवल अन्तिम स्वरूप की व्याख्या करूँगा।

दर्शन-शास्त्र के निर्णय के अनुसार सृष्टि के क्रम-विकाश का रूप इस प्रकार निश्चित किया गया है। ब्रह्म, माया वा प्रकृति, त्रिगुण, दिक् और काल।

शङ्कर वा विष्णु का स्वरूप इन्हीं सिद्धान्तों का रचा हुआ एक सुन्दर काव्य है। इस मनोहर काव्य के रचयिता, अपने पूर्वजों की प्रतिभा, देख कर बुद्धि चकित और हृदय स्तम्भित हो जाता है और उन ऋषियों के चरणों में सौ सौ बार नमस्कार करने की इच्छा होती है। ब्रह्म शंकर हैं और माया पार्वती हैं। हम कल्पना नहीं कर सकते कि दिशाओं का विस्तार कहाँ तक है। वह विस्तृत दिक् भी इस योगिराज की लँगोटी-अम्बर है। अतः ये दिगम्बर हैं। काल कब से है और कब तक रहेगा इस का हम अनुमान भी नहीं कर सकते। इस की भयङ्कर और अनिवार्य शक्ति को सभी जानते हैं। वह सर्प के रूप में एक तुच्छ कीट बन कर कभी उस की जटा में जा छिपता है और कभी कलाई पर झूलता है। स्थूल जगत् का सब से विस्तृत किन्तु सब से प्रथम दिखाई पड़नेवाला 'आकाश' ही उसका केश है, अतः वह व्योमकेश है। सृष्टि का सब से मनोहर रत्न चन्द्रमा उस का शिरोभूषण है अतः वह चन्द्रशेखर है। त्रिशूल

* अपने "तुलसीदास" नामक पुस्तक में ५० पृष्ठों में मैंने इस विषय की विस्तृत आलोचना की है। पुस्तक छप रही है। स्थानाभाव से यहाँ इस विषय की चर्चा नहीं हो सकी —लेखक।

तीनों गुणों का सङ्केत है। डमरू सृष्टि का, आग (धुनी) प्रलय का चिन्ह है। दिशायें इन की बाहें हैं। दिशाओं की कल्पना जब चार की जाती हैं तो इन की चार बाहें होती हैं, जब दश की जाती है तो भुजायें भी दश होती हैं, अनन्त दिशाओं की कल्पना के समय इन की सहस्र भुजायें मानी जाती हैं। कर्म, ज्ञान, भक्ति वा चन्द्र, सूर्य, अग्नि ही इन के तीनों नेत्र हैं।

विष्णु के रूप में जब कल्पना की जाती है तो सर्वव्यापी आकाश का नीला रंग ही इन के शरीर का रंग माना जाता है। दिशायें बाहु हैं*। पद्म सृष्टि का, गदा संहार का, चक्र रक्षा का और शंख मुक्ति का चिन्ह है। पीताम्बर दिक् है। सहस्र मुख से संसार का संहार करने वाला काल शेष है। संसार में सब से बड़े ज्ञान और धन की दो बड़ी शक्तियाँ, सरस्वती और लक्ष्मी, इन की गृह-देवियाँ हैं। जिस पर ये कृपा करते हैं उस के निकट ये दोनों नृत्य करने लगती हैं§। विष्णु की कल्पित मूर्त्ति पर जब योग का प्रभाव पड़ा है तब शेष को कुण्डलिनी शक्ति, और पृथ्वी को सुषुम्ना नाड़ी माना गया है।

ब्रह्मा की पूजा पहिले होती थी। पर पीछे ब्रह्म के संकेत न होकर ये केवल चारों वेदों के संकेत रह गए। इस लिए इन की पूजा लोप हो गई।

भगवान् राम और कृष्ण के स्वरूप में भी ये ही सिद्धान्त कार्य कर रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये ऐतिहासिक पुरुष हैं। जब इन के उत्सव ने पूजा का रूप ग्रहण किया तो ऋषियों ने इन्हें पूर्ण ब्रह्म का स्वरूप वा सङ्केत बना दिया। मनुष्य-पूजा के पापको वे सहन नहीं कर सकते थे।

राम

राम-स्वरूप में भगवान् राम ब्रह्म, सीता माया, लक्ष्मण जीव, भरत सिद्ध और हनुमान साधक हैं। हमारे हृदय का अहंकार रावण है और छोटे छोटे विकार राक्षस हैं। उन्हें दमन करने में सहायक सद्वृत्तियाँ वानरगण हैं। गोस्वामी तुलसीदास की रचना से ही ये बातें स्पष्ट हैं। आप लिखते हैं:—

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश, माया जानकी।
जो सृजति,पालति,हरति पुनि रुख पाय कृपानिधानकी

उभय बीच सिय सोहति कैसी।
ब्रह्म जीव विच माया जैसी॥

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके।
राम लषण सम प्रिय तुलसी के॥

वरणत वरण प्रीति बिलगाती।
ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥

राम सकुल रण रावण मारा।
सीय सहित निज पुर पगु धारा॥

सेवक सुमिरत नाम सप्रीती।
विनु श्रम प्रबल मोह दल जीती॥

ब्रह्मचक्र का नक्शा देखने से तुलसीदास की यह पंक्ति समझ में आती है:—

"ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया,
रोम रोम प्रति वेद कहै।"

जो लोग 'तुलसी के ईश राम को' विष्णु का अवतार मानते हैं वे बड़े भ्रम में हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ब्रह्म के अन्तर्भूत तीन कल्पित मूर्त्तियाँ हैं।

---

*यस्ये माः प्रदिशो यस्य बाहू। ऋग्वेद १०.१२१.४

§यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि। तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। ऋग्वेद १०.१२५.५

गोसाईं जी ने इसे स्पष्ट कर दिया है। आप लिखते हैं-

राम काम शत कोटि सुभग तन।
दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
विष्णु कोटि सम पालन कर्त्ता।
रुद्र कोटि सत सम संहर्त्ता॥ इत्यादि

× × × ×

जग पेखन तुम देखन हारे।
विधि हरि शम्भु नचावनि हारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा।
और तुम्हें को जाननि हारा॥

गोसाईं जी की दृष्टि में ब्रह्मा विष्णु महेश की इतनी ही महत्ता है कि ये न तो वानरों का गुण गान कर सकते हैं और न साधुओं का।

विधि हरि हर कवि कोविद वानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी॥

किन्तु प्रभु प्रताप तो काल का भक्षक है।

उमा न कछु कपि की अधिकाई।
प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥

हिन्दू सभ्यता के रहस्य से परिचित मनीषिगण इस रहस्य को जानते थे। इसका पता कालिदास, विद्यापति, कबीर, दादू, सूर, तुलसी आदि सभी को था। अतः गोसाईं जी ने लिखा है:—"सेवक स्वामि सखा सिय पी के।" उमापति और सीतापति में कोई भेद नहीं है। सिद्धान्ततः और स्वरूपतः जो उमापति है वही सीतापति है, जो सेवक है वही सेव्य है, फिर भेद कैसा? ठीक ही कहा है।

उभयोः प्रकृतिस्त्वेका प्रत्ययभेदाद्विभिन्नवद्भाति।
कलयति कश्चिन्मूढ़ो हरिहर भेदं विना शास्त्रम्॥

कृष्ण

भगवान् कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। कालीय काल का संकेत है, जिसे नाथ कर उसके माथे पर वे नृत्य करते हैं। मोर सर्प का भक्षक है और वे काल के भक्षक हैं; इसी का सङ्केत स्वरूप वे मोर मुकुट धारण करते हैं। काष्ठ जिह्वा स्वामी का वचन है।

मोर पक्ष ये ही दरसावत सर्प काल को काल।
श्याम ब्रह्म अस श्रुति बोलत सो देवकि सुत गोपाल॥
याको तुम भजन करो।

इस तत्त्वमें प्रवेश करनेके बाद स्वभावतः मन में प्रश्न उठता है कि इतने प्रपञ्च और मन गढ़न्त मूर्त्तियों की क्या आवश्यकता है? इन्हें छोड़ कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना क्यों न की जाय। पर, कह देने से ही कोई निर्गुण ब्रह्म का उपासक नहीं बन जाता। जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना का ढोंग करते हैं वे घोर नास्तिकता, बुत परस्ती, भूत, प्रेत, क़ब्र इत्यादि की पूजा में डूबे हुये पाये जाते हैं। इन कल्पनाओं के प्रयोजन और प्रयोग की बिधि पुराण में इस प्रकार दी गई है:—

शुभाश्रयः स्वचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः।
त्रिभाव भावनातीतो मुक्तये योगिनां नृप।
अन्ये च पुरुष व्याघ्र चेतसो ये व्यपाश्रयाः।
अशुद्धास्ते समस्तास्तु शिवाराधनतोगताः।
मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रय निस्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चितं तत्र धार्यते।

इन पंक्तियों से ही इन कल्पनाओंकी सार्थकता और उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

शिव-पंचक

(ले० श्री कालीचरण विशारद)

शिव, शिवेति शिवेति कहो सदा,
यह महा सुख दायक नाम है।
सुक्षग स्वर्ग प्रदायक मार्ग भी,
जगत ने इसको बतला दिया।

जगत में जितने शिव भक्त हैं,
शिव सदा उनके वश मे रहें।
दुख नहीं पड़ता उनपै कभी,
सुख सुगंग सदा बहती यहां।

सकल देवन से यह हैं बड़े,
स्मृति पुराणन में यह है लिखा।
धरणि के नर नारि बता रहे,
शिव सुपूजन में अति लाभ हैं।

हृदय बीच बसी सब कामना,
पलक के गिरते शिव शक्ति से—
अति अलौकिकता भरती हुई,
चकित है करती जग पूर्ण-हो।

इस लिये सब को अब चाहिये,
मिल करें शिव की शुभ प्रार्थना।
जब कभी मुख बाहर शब्द हो,
शिव, शिवेति शिवेति कहें सभी।

अनवसरदुस्थ कुतर्क

(ले० श्री मांगीलाल शर्मा, जयपुर।)

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं,
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुस्थो हतधियः,
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥

महिमा के विश्वरूप में पदार्थों का प्रस्ताव करते हुए आचार्य पुष्पदन्त ने जिन पाँच प्रश्नों का निर्दिष्ट श्लोक में उल्लेख किया है, वे प्रश्न उन के समय में जिस रूप में थे आज भी उन का वही रूप बना हुआ है। यद्यपि ये पाँच 'प्रश्न' हैं, पर आचार्य पुष्पदन्त इन प्रश्नों को 'कुतर्क' नाम से प्रस्तुत करते हैं। बात यह है कि बिना अवसरका प्रश्न बेठिकाना, बेपता होने से 'अनवसरदुस्थ' परिभाषित है, और इस दशा में वह प्रश्नत्व की हकीकत से गिर कर 'कुतर्क' बन जाता है। प्रश्न को कुतर्क बनने में और जो कारण होते हैं, उन में चौथा कारण 'अनवसर' है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रश्नों को 'कुतर्क' और ऐश्वर्य को 'अतर्क्य' बतलाया है। ऐश्वर्य के अतर्क्य यानी अज्ञेय तरीक़ा के विषय में जो भी सवाल खड़ा होगा, वह कुतर्क-तरीक़ा से खारिज होगा ही। अतः अतर्क्य में तर्क लगाने को ही कुतर्क कहा सो ठीक है।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

अचिन्त्य भावों में तर्कयोजना सिवा 'कुतर्क' शब्द के और क्या हो सकता है? शास्त्रों में सृष्टि प्रकरण में, तीन प्रकार की सृष्टि बतलाई है, एक भावसृष्टि, दूसरी विकार सृष्टि, तीसरी गुणसृष्टि। विकारसृष्टि और गुणसृष्टि तो तर्कगम्य हैं। परन्तु प्रथम जो भावसृष्टि है, वह अचिन्त्य है, तर्क से बाहर है। और उस प्रथम भावसृष्टि का लक्ष्य रखकर प्रश्न पूछना कुतर्क है। उस का तो वास्तव तर्क सिद्ध उत्तर नहीं हो सकता, परन्तु लोकसृष्टि जगत्सृष्टि ये असमाधेय कोटि में नहीं हैं, इसका उत्तर हो सकता है। आचार्य पुष्पदन्त पाँचों प्रश्नोंको कुतर्क बता कर इस लिए उत्तर देने में चुप रहे कि वहाँ वाग्व्यापार और मनोव्यापार की गुजर नहीं। और पुरुष के इधर प्रकृति ब्रह्म से जो सृष्टि प्रकरण चलता है, वह तो शास्त्रगम्य है ही। इस स्तोत्र श्लोक में आचार्य ने वेदमन्त्र का अनुवदन किया है, उन का अभिप्राय है कि वेद के समय से ही 'किमीहः किंकायः'—इत्यादि सृष्टि विषयक पूछ पाछ जारी रही है—वेद में यह श्लोक इस तरह है:—

'किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं,
कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा,
विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥'

इस यजुर्वेद के सप्तदशाध्यायस्थ अष्टादश मन्त्र को और 'किमीहः किंकायः' इस पूरे श्लोकको अनुपद पढ़ने से मन्त्र और श्लोक का समानार्थ एक साथ ही हृदयंगम होता है।

वेद भाषा में इस प्रकार प्रश्न के और उत्तर के मन्त्र को 'वाकोवाक्य' कहते हैं। प्रश्न मन्त्र तो स्पष्ट होते ही हैं, परन्तु उत्तर मन्त्र कभी पर्यायान्तर से कह दिये जाते हैं। यही बात प्रकृति मन्त्र के लिये भी समझो। इस लिये भी आचार्य पुष्पदन्त ने प्रश्न मन्त्र को स्पष्ट कह दिया, और उत्तर के लिये साहित्य सम्मत और प्रकार से समझाया। आचार्य प्रस्तूयमान हरदेव को—'त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च'—'आत्मा' बतलाया है। 'आत्मा' कहकर आचार्य ने 'किमीहः किंकायः'—इत्यादि पाँचों प्रश्नों का समास में उत्तर सूचित कर दिया है। हम अपने बोध के लिये उस समास मय उत्तर को व्यास करते हैं। 'आत्मा' क्या है, उसका लक्षण श्रुति कहती है—

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमय' इति।

आत्मा वाङ्मय है, प्राणमय है, मनोमय है। आत्म वाक्, प्राण और मन से नित्य संपरिष्वक्त होने से वह मन की ईहा, प्राण की ईहा और वाक् की ईहा रखता है, इनका क्रम से नाम काम, तप और श्रम है। त्रिभुवन सृष्टि बनाने वाले मनोमय आत्मा ने इच्छा करी, प्राणमय आत्मा ने तप किया और वाङ्मय आत्मा ने श्रम। यह का ईहा यस्य स किमीहः प्रश्न का उत्तर समझो।

कः कायो यस्य स किंकायः।

ऊपर निर्दिष्ट तीन ईहा—इच्छा नाम ईहा मनःकाय में, तप नाम ईहा प्राणकाय में, और श्रमनाम ईहा वाक्काय में रहने से वह त्रिभुवनस्रष्टा 'मनः प्राण-वाक्काय' है। उत्पन्न त्रिभुवन में हम तीनों प्रकार की ईहा पाते हैं, और इनके तदधिष्ठितकाय पाते हैं। कार्य में इन गुणों का होना कारण में भी न्याय सिद्ध माननीय है। इसके आगे 'किमुपाय किमाधार, किमुपादान' में भी इस सामान्य न्याय को अन्वित कर लीजियेगा।

क उपायो यस्य स किमुपायः।

सूत्र, चीवर इत्यादि उपाय घट कार्य में वेमा वायदण्ड पटकार्य में साधन उपाय हैं; जगत्स्रष्टा सृष्टिकार्य में मन, विज्ञान और आनन्द नामक उपाय रखता है। क्योंकि सृष्टिरचना में अवश्य उसे आनन्द होता है, आनन्द की प्रतीति विज्ञान में और मन के आयत्त ये दोनों। अतः वह त्रिभुवन विधाता 'मनोविज्ञानानन्दोपाय' है।

क आधारो यस्य स किमाधारः।

आधार सात तरह का है, आकाशविध, पात्रविध, पयोविध, सूत्रविध, कोशविध, प्रकरण-विध, जलविध। इन सबका एक नाम 'अव्यय' है, वह अव्ययाधार है इत्यर्थः।

किम् उपादानं यस्य स किमुपादानः।

घटपटका उपादान मृत्तिका सूत्र की जगत् का उपादान जो है, उसका नाम पढ़ने में आता है 'क्षर'। क्षरोपादान से बना हुआ होने से सभी भूतजात क्षर कहलाते हैं। इस त्रिभुवन रचना में जो क्षर उपादान है, वह पाँच तत्त्वों का मिश्रण है। जो क्षर की प्रकृति हैं, जिनके नाम हैं – प्राण, आप, वाक, अन्न और अन्नाद।

———

सनातन धर्म क्या है ?

(लि०—श्री महादेव प्रसाद द्विवेदी ब्रह्मपुरी, जयपुर ।)

भारतवर्ष में सनातनधर्म एक ऐसा सुप्रसिद्ध धर्म है, जो प्रायः किसी से अविदित नहीं है, किन्तु ऐसा होने पर भी यदि विचार किया जाय कि 'सनातनधर्म' क्या वस्तु है तो संभव है इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर देना बड़े बड़े विद्वानों को भी कठिन पड़ जायगा। क्योंकि कुछ दिनों से अनेकानेक मत-मतान्तरों के प्रचलित होने से 'सनातनधर्म' का स्वरूप विकृत एवं जटिल होगया है। वास्तव में इसका विवेचन करना कठिन है। बहुत से महानुभाव जो अपने को सनातनधर्मी घोषित करते हैं और जिनको जनता भी 'सनातनधर्मी' शब्द से भूषित करती है; उनको भी यह मालूम नहीं कि जिस धर्म के नाम से हम धार्मिक—जगत् में सुप्रसिद्ध हैं उस वस्तु का वास्तविक स्वरूप क्या है। किन्तु शास्त्रों के आधार से सनातनधर्म के स्वरूप ज्ञान के लिये विशेष कठिनता नहीं मालूम होती। अर्वाचीन काल के विविध मतों के कतिपय ग्रन्थों के प्रचलित हो जाने से बड़ी अनमेल खिचड़ी पकाई जा रही है।

विचार से यही स्थिर सिद्धान्त प्रतीत होता है कि जो जगत् प्रसिद्ध सर्व विदित 'वर्णाश्रमधर्म' है यही सनातनधर्म है इसके अतिरिक्त सनातनधर्म कोई अन्य वस्तु नहीं है। यहविषय ऋग्वेदादि जो स्वतः प्रमाण ग्रन्थ हैं एवं मनुस्मृत्यादि जो संभावित परतः प्रमाण ग्रन्थ हैं इन दोनों से भली भाँति सिद्ध है।

इसी वर्णाश्रमधर्म के नियमानुसार व्यवहार करने से ही हम सबलोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य एवं शूद्र कहलाते हैं।

शास्त्र विदित श्रौत-स्मार्त्तानुकूल अपने अपने नियमानुसार कर्त्तव्य करने से 'द्विजाति' कहलाते हैं। और इस लोक में सुख एवं परलोक में स्वर्ग और मोक्ष के भागी होते हैं।

इस धर्म की इतनी महान् सत्ता और महिमा है कि रामकृष्णादि-रूप से इस लोक में अवतीर्ण परमेश्वर को भी वर्णाश्रमधर्म में प्रतिबद्ध होना पड़ा है। इस वर्णाश्रमधर्म में वर्णधर्म ही तत्तद्विशेषावस्थाओं से आश्रमधर्म कहलाता है। उपनयन संस्कार के बाद पहले ब्रह्मचर्याश्रम प्रवृत्त होता है। सब आश्रमों में प्रधान होने से ब्रह्मचारी-सन्ध्योपासन (परमेश्वरोपासना) तथा अग्नि परिचर्या करता हुआ यथेष्ट फल का भागी होता है।

उपासना ही कालविशेषोपाधि से सन्ध्योपासना कहलाती है, यह द्विजातिमात्र के उन प्रधान कर्त्तव्यों में है जिन के न करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति नहीं कहला सकते। उक्त उपासना ही प्राचीनकाल में ब्रह्मोपासना, समाधि (असंप्रज्ञात) आदि शब्दों से महर्षियों में व्यवहृत होती थीं। कालचक्र के परिवर्त्तन के साथ चित्त के निरोध न होने के कारण ब्रह्मोपासना ही पञ्चदेवतोपासना (शिव, शक्ति, गणेश, सूर्यादि) रूप में

परिणत हुई है। इस से स्पष्ट है कि पञ्चदेवतोपासना पुराणों में संक्षेप से लिखी गई है, तो भी इस समय व्यापक रूप से विष्णु और शिव की ही उपासना अधिक प्रचलित है। वर्तमान काल के उपासक लोग उपासना के प्रवाह में पतित होकर पारंपरिक ऋषिप्रोक्त परिशीलित मार्गों से च्युत हो जाते हैं। और मनमाने उपासना प्रवाह में लिप्त होकर उपासना के मूलभूत उस वर्णाश्रमधर्म को भुला कर अज्ञानवश उस दुष्प्राप्य मुक्ति के अधिकारी बन बैठते हैं, जिस के लिए बड़े बड़े ऋषि-महर्षि भी जन्म-जन्मान्तर में प्रयत्न करते रहे हैं। आजकल भी यह वितण्डावाद चला आ रहा है। लोक में इस का इतना गहरा प्रभाव (Influence) पड़ा है कि भगवान् विष्णु और शिव के पारमार्थिक भेद न होने पर भी दोनों को सर्वथा विभिन्न एवं एक दूसरे को विरुद्ध मान कर उपासकों में बड़ा भारी असमञ्जस फैल गया है। कार्यकारणभाव और समय के परिवर्तन से भगवान् के अनेक अवतार हुए हैं। किन्तु विष्णु और शिव में द्वैविध्य का कारण महाभारत-रामायणादि किसी भी प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में कुछ नहीं पाया जाता, यदि यह बात सम्भव थी तो भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने रामेश्वर में शिव-लिंग की स्थापना क्यों की? इस प्रकार के विरोधाभास न होने के अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं।

जब यज्ञोपवीत के बाद ब्रह्मचर्य के प्रारम्भ होते ही ब्रह्मोपासना में प्रवृत्ति हो जाती थी, तब वहाँ पर उपासना में शैव-वैष्णवों का कोई झमेला ही न था। शास्त्रों के मर्म को न समझने के कारण मनगढ़न्त से अनेक मत फैले हैं। और। अब ज़रा वैष्णव मतानुयायियों की ओर दृष्टि कीजिये विष्णु और शिव के विषय में परस्पर मतभेद होना एक दूसरी बात है, किन्तु कुछ समय से विष्णु के उपासकों में बड़ी गड़बड़ी फैली है, उनमें भी परस्पर युद्धभाव उत्पन्न हो गये हैं जिसमें द्वैताद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैतवादी कहलाने लगे हैं। और इसके अनुसार ही वाह्य आचार विचारों में भी बड़ा अन्तर एवं पार्थक्य हो गया है। जो सर्व विदित है, उसके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। पुराणों में पांचरात्र और पाशुपत के अनुसार जो वैष्णव और शैव उपासना के प्रकार लिखें हैं, वे वैदिक और अवैदिक दोनों ही हैं। इसी लिए पञ्चगौड़ों में भी उपासना के दो प्रकार हो गए हैं, पहली विष्णु तथा शिव की उपासना, और दूसरी शंख चक्रादि अङ्कित कराना।

ये उपासनायें कल्पसूत्र (श्रौत-स्मार्त सूत्र) के अनुसार ब्रह्मचर्यावस्था में ही प्रवृति होती हैं। और इनका उपसंहार औपनिषद दर्शन (वेदान्त) के अनुसार चतुर्थाश्रम में होता है।

इस लिये जब श्रुतिस्मृतियों से नियमित वर्णाश्रमधर्म ही सनातन धर्म है तो उपासना प्रवाह में पतित होकर वर्णाश्रम धर्म में आघात पहुँचाना क्या प्रायश्चित का प्रयोजक नहीं है? इस लिये सनातन धर्मियों का प्रधान कर्तव्य है कि वर्णाश्रम धर्म का पूरा विचार रखते हुये ही किसी उपासना में प्रवृत हों।

सनातनधर्म के इस महान् कलंक को मिटा कर वेद शास्त्र पुराणों के अनुसार सनातनी विद्वानों से प्रार्थना है कि विषय पर अधिकाधिक प्रकाश डालते हुये जनता के अज्ञान को दूर करने की चेष्टा करेंगे। तथास्तु।

———

आत्मा की ओर

(सम्पादकीय)

आत्मा का विषय जनसाधारण के लिए एक प्रकार से रोचक नहीं होता। शरीर और शरीर का विषय उन के आँख के सामने होता है, उन को अपनी ओर खींचनेवाला होता है और इसीलिए एकांगी रूप से सर्वोपरि होता है। शरीर और शरीर-विषय के परे और शरीर और शरीर-विषय को ओतप्रोत करती हुई कोई आत्मा है और कोई आत्म तात्पर्य है इसकी सज्ञान भावना लोगों में नहीं होती। बाहुल्य में जड़ता होती है शायद इसी लिए। समय प्रवाह का यह परिणाम और गुण है अथवा इस कारण। कदाचित् यह संयोग की बात है। जो कुछ हो इस नाना प्रपञ्च के कुहरे के भीतर भी प्रधान रूप से और आधार रूप से, आत्म सत्ता की प्रकाशमणि प्रदीप्त रहती है। उस की ओर केवल दृष्टि फेरने की बात है कि अस्तित्व की सुन्दरता सत्यज्ञान के प्रकाश के रूप में परिणत हो जाती है और परम कल्याण का मार्ग सामने आ जाता है।

आइये पहले उसके अस्तित्व के विषय में कुछ विचार करें। यदि उससे हमारा सीधा तथा प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं हुआ और उस के चमत्कार और रस को हमने बाज़ार में बिकते नहीं पाया तो क्या आत्मा और आध्यात्मिक विषय की सर्वोपरि सत्ता और उन का महत्तम मूल्य किसी प्रकार उपेक्ष्य है। हज़ारों वर्षों से लोग झरनों को कलकल गान करते हुए, और विश्वम्भर के लिये 'स्वाहा स्वाहा' घोषित करते हुए सुनते रहे। क्या कभी लोगों ने उसमें सुषुप्त बिजली की अपरिमित शक्ति के भंडार का विचार किया था? परन्तु तो भी इन्हीं पानी के झरनों से अब बिजली निकाली जाकर अनगिनती कार्यों में लगाई जाती है। इसी प्रकार वायु द्वारा मनुष्य जाति के असंख्य 'टहल' होते हैं, सूर्य-रश्मियाँ भी लोक जीवन-प्रदान करती हुई लोक कार्यकारिणी बनाई जा रही हैं। इसलिए यदि हमने अबतक आत्मा की खोज और उस के अमर तत्त्व की ओर अपने को अग्रसर नहीं किया तो यह हमारा दुर्भाग्य ही समझिए इस से आत्मसुख की सम्भावना में किसी प्रकार भी फ़र्क़ नहीं पड़ता।

प्राचीन शास्त्रों के प्रमाण और पुस्तकों के लेखों को कदाचित् आप अपने अज्ञान में कभी 'गपोड़े' कह बैठें अतः उनकी भरमार हम न करें। उनके अर्थ और संकेत को हम तभी विचारार्थ उपस्थित करें जब आप में आत्म विषय के लिए रुचि जागृत हो उठे। तब तक हम उसी भाषा और उन्हीं भावों के द्वारा इस बात को सामने रक्खें जिनके द्वारा आधुनिक जड़ सभ्यता का प्रतिपादन होता है। आधुनिक सभ्यता को जड़ इस लिए लक्षित करते हैं क्योंकि उसका लक्ष्य मुख्यतः जड़ (Technical) है—किसी उपेक्षा की दृष्टि से जड़ नहीं कहते।

जिस विभूति-भूषण के रत्नागार से अन्वेषक लोग एक से एक अमूल्य आविष्कार का रत्न निकाल कर मनुष्य जाति के लिये, कार्य क्षमता बढ़ाने के लिये, दीपक के रूप में रखते हैं और

उजाला फैलाते हैं उसके अस्तित्व तथा उसके सर्व प्रकाशमय होने के विषय में लोग अविश्वास अथवा सन्देह करें तो यही कहना पड़ता है:—

अतर्क्यै श्वर्ये त्वय्यनवसरदुस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥

यह अतर्क्य ऐश्वर्य के विषय में मोहजनित कुतर्क है।

क्या कभी आपने अपने हृदय पर हाथ रखकर यह प्रश्न किया है कि आप कौन हैं और आप कहाँ हैं—कितनी दूर हैं आप अपने से? सच तो यह है कि जो बात मनुष्य के परम निकट है और परम निकट जो वस्तु उसे बोध और अनुभव होनी चाहिये वही दुनियादारों को सब से पीछे और सब से कम सारयुक्त लगती हैं। कार्य क्षमता के लिये दुनियादार आदमी जिन विषयों और पदार्थों को आवश्यक समझता है उसमें निष्ठा और विश्वास लगाकर उनका सयत्न और सविधि अध्ययन करता है और नियमानुकूल चलकर अपने उद्देश्य की तद्गति प्राप्त करता है। यद्यपि अनात्मक्षेत्र में वह इतना सचेष्ट और प्रयत्नशील दिखाई देता है किन्तु उसका उतना ही ध्यान और उतनी ही क्रिया शक्ति अध्यात्मक्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ती। साधारण दुनियादार तो इस विषय में सोया हुआ ही रहता है। क्यों? इसलिए कि उस रस को उसने नहीं चखा, उस वायु में उसने नहीं साँस लिया। सभी चीजें आदत पर निर्भर हैं। किसी कारण और परिस्थिति के वश होकर उसकी यह आदत ही न लग पाई कि आत्मानन्दरस का रसिक बने। परन्तु ऐसा रसिक बनना उसी क्षण से सुलभ और सम्भव है जिस क्षण से इसके लिए दृढ़प्रतिज्ञ बना जाय।

इस शरीर में शरीर-सुखोपभोग की कितनी सम्भावना और क्षमता-शक्ति है इसका अटकल आधुनिक उपकरण की सभ्यता दे रही है जिसकी महत्ता, जिसके गौरव, जिसके बाहुल्य और जिसके विलास से जगत् की आँखें चकाचौंध हैं। इस शरीर-सुखोपभोग की क्रिया में सुखोपभोग जागृत और शरीर सोया हुआ रहता है—यों कहिए कि सुख स्वामी और शरीर परवश रहता है। सुखोपभोग के अतिरिक्त क्या इस शरीर में और भी कोई सम्भावना है—क्या इस मिट्टी में कुछ सोना भी है? क्या इस बात पर कभी साधारण मनुष्य विचार करता है कि शरीर को साध कर और इन्द्रियों को संयमित करके एक ऐसे केन्द्र का पता लगाया जा सकता है जहाँ शरीर पंक से मनुजत्व पंकज खिलता है जिसका सौरभ देवत्व को मुदित करता है और जिसका पराग अध्यात्म तत्त्व मार्ग का उज्वल मार्गरज है। थोड़े से ही ध्यान और साधना से यह बात ज्ञात हो सकती है कि शरीर सचेतन है और है यह सृष्टि का प्रतिरूप और ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब। वैज्ञानिक अणु परमाणु और सूक्ष्मतम परमाणु का अध्ययन करते हुए यह बतलाते हैं कि जो विधान उनके निर्माण और संचालन में है वही सौर मंडल, महासौरमंडल एवं उत्तरोत्तर है। शरीर में सब विभूतियाँ और सब शक्तियाँ निहित हैं। शरीर की वसुन्धरा केवल मिट्टी की काया नहीं, सोने तथा रत्नों की खानि है। विश्वास कीजिए, अध्ययन कीजिए तब प्राप्त कीजिये।

जब आप की यह धारणा हो चले कि शरीर-सुखोपभोग के परे, शरीर स्वामित्व और आत्मानुभव हमें प्रिय है क्योंकि वही वास्तविक रूप से

हितकर है तब "गपोड़ा" नाम से दूषित शास्त्रों और प्रयोगों को, उनकी धूलि और उनका आवरण हटा कर देखिये और समझिये—देखने वाले और समझने वाले की कृपा सहायता से।

शरीर विद्या विशारद शरीर रचना के कौशल पर अनेक आश्चर्य करते हैं और सृजनहार के रहस्य का ध्यान करके विमुग्ध होते हैं। शरीर का संचालन, उसकी गति और उस का कार्य ऐसे विधान से होते रहते हैं कि उन के सामञ्जस्य के बारे में एक प्रकार की जड़ भावना जम गई है। और उस के आधार पर शरीरविज्ञान के अंग उपांग निर्धारित कर लिये गये हैं। वैद्यक विद्या-विशारदों ने धातुओं, रसों, पदार्थों, द्रव्यों इत्यादि के संयोग, सम्मिश्रण, व्यय एवं न्यूनाधिक्य के आधार पर इस बात को प्रकट किया है कि शरीर की रचना में हस्तक्षेप किया जा सकता है और यथेष्ट विकास और वृद्धि की जा सकती है। एक ही वस्तु नाना धातुओं में, हस्तक्षेप द्वारा परिणत की जा सकती है। इस पर यदि प्राणों के संयमन, संचालन, सदुपयोग और शासन का कार्य मिलाया जाय तो संजीवनी शक्ति में भी हेर फेर सम्भव है। इस के आगे शरीर के साथ ही साथ वृत्तियों के अभ्यास, व्यायाम, निरोध, परिष्कार, उन्नयन के द्वारा शरीर के अन्दर रहस्यमयी शक्तियाँ और सिद्धियाँ जागृत और परिपुष्ट की जा सकती हैं। जिन प्रवृत्तियों और क्रियाओं पर आधुनिक मनोविज्ञान-विशारद केवल आश्चर्य प्रकट करते रहते हैं उन का उपयोग और साधना प्राचीन मनः तत्त्ववेत्ता आध्यात्मिक उन्नति और गति के लिए होना दिखा गए हैं। और इन्हीं का समुज्वल संकेत गायत्री से संयुक्त सन्ध्योपासना विधान में मिलता है जिस में निहित है:—

"आप्यायन्तु ममांङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथोबलमिन्द्रियाणि च"

शरीर विकाश, प्राण संयमन, और वृत्ति परिष्कार की पराकाष्ठा पर भी अत्यन्त कुतूहलपूर्ण नित्य नवीन प्रश्न रहता ही है:—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।

आत्मबोध का मार्ग कितना रोचक है इस को वे ही अनुभव करते हैं जो इस ओर प्रेरित और प्रस्थित हैं। मनुष्य का मस्तिष्क सदैव स्वभावतः प्रकाश और आनन्द की ओर प्रवृत्त रहनेवाली चीज़ है। आत्मानुसरण से बढ़ कर प्रकाशमय पवित्रतामय, आनन्दमय और शक्तिमय कोई अन्य अवस्था या वस्तु नहीं। जब अन्य विषयों में पारंगति और सिद्धि प्राप्त की जा सकती हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष अथवा उपकरण द्वारा देखते और मानते हैं तो क्या शरीर-क्षेत्र और शरीर में सन्निहित सम्भावनाओं—निश्चित और चिरकाल-निर्दिष्ट सम्भावनाओं—के समझने, अध्ययन करने और आत्मानुभव करने में हमें अपना ध्यान और श्रम न लगाना चाहिए! आजकल के बहुशाखा-प्रवृत्ति जीवन में इतनी किरकिरी क्यों है? इसी लिए कि जीवन और अस्तित्व के असली सुख की खोज अनात्मतत्त्वों में की जाती है। 'आत्मा की ओर' ही एक सुखद ऊपा है जिस से भ्रम और श्रम का निवारण हो सकता है।

श्री दुःखहरणनाथ शिव

(ले० श्री "शंकर")

थार करि गगन औ पुष्प तारागन भरि,
चन्द्र सूर्य दीपक की साज को सजाये ते।
प्रकृति सुवासिनी करति आरती है जासु,
अर्घ्य जल नदी सर नीर को बनाये ते।
संतति चराचर को मंगल लहत याते,
रहे सेवालीन जाकी मन फल पाये ते।
दुःख और दारिद हरन ततछन होत,
नाथ दुःख हरन सरन ही में आये ते।

सम्मतियाँ

श्रीमान् संपादक जी "पुरुषार्थ" को—

सादर निवेदन है कि शिवभक्तप्रवर बाबू श्री गौरीशंकर जी गनेड़ी वाला ने "पुरुषार्थ" का प्रथमांक दिया जिसे पाकर बड़े आनन्द का अनुभव हुआ। मानव जीवन की एक अत्यन्त आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये "पुरुषार्थ" का जो जन्म हुआ है इसे कौन अपनाना नहीं चाहता ? इस पत्र में प्रकाशित सामग्री भी "सत्यं शिवं सुन्दरम्" है। ...... आपने शिवमय "पुरुषार्थ" को जन्म देकर निराडम्बर किन्तु सात्विक मनुष्यों का बड़ा उपकार किया है। मैं तो इसकी सफलता के लिये आप को धन्यवाद ही नहीं देता किन्तु इस पत्रिका का सब सात्वर मनुष्यों में प्रचार चाहता हूँ।

भवदीय,

वीरभद्र शास्त्री तैलंग,
वेदकाव्यस्मृति तीर्थ धर्माचार्य साहित्यविशारद,
शैव भारती भवन,
जंगमवाड़ी मठ, काशी।

प्राप्ति-स्वीकार

लोक धर्म (मासिक)—सम्पादक रामशृङ्गार दास "श्रीवैष्णव", मुद्रक—ध्यानी छगनलाल जयशंकर हरिहर प्रिंटिंग प्रेस, टेम्पल रोड डाकोर, प्रकाशक—रामशृंगार दास जी लोकधर्म कार्यालय, गुंडीवाली जगह, डाकोर (खेड़ा), वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का -) ।

लोकधर्म सनातन धर्म का पोषक अच्छा पत्र है । सात वर्षों से निकल रहा है ।

वैद्य (मासिक)—सम्पादक विष्णुकांत जैन, प्रकाशक हरिशंकर वैद्य, वार्षिक मूल्य २) एक प्रति का=) ।

नाम के अनुसार ही वैद्यक विषय का यह पत्र है । १६ वें वर्ष की दसवीं संख्या हमारे सामने है जिस में स्वर्गवासी वैद्यराज पं० शङ्करलाल जी जैन की मृत्यु का शोक मनाया गया है ।

श्रेय (मासिक)—इस पत्र की समालोचना 'पुरुषार्थ' के पिछले अंक में प्रकाशित हो चुकी है । इस संख्या के साथ प्रथम वर्ष समाप्त कर के 'श्रेय' द्वितीय वर्ष में पदार्पण करता है । इसके लिये बधाई । व्यवस्थापक 'श्रेय' लिखते हैं:—

आगामी वर्ष का प्रथम अंक "श्रेय" का विशेषाङ्क होगा, जिसका नाम श्रीभगवद्भजनांक होगा । यह पारमार्थिक साहित्य का एक अपूर्व रत्न होगा । इसमें श्रीभगवद्भजन के विषय में उत्तमोत्तम विचारपूर्ण लेख रहेंगे, जिनमें भजन के सभी अंगों की गंभीर आलोचना रहेगी । ...... इस अंक की पृष्ठ संख्या एवं रंगीन चित्रों की संख्या साधारण अंकों से प्रायः छः गुणी होगी । सादे चित्र भी अनेक होंगे । इसका मूल्य १) मात्र रक्खा गया है । जो सज्जन पूरे साल भर के लिये "श्रेय" के ग्राहक बनेंगे उन्हें यह विशेषांक बिना मूल्य ही प्राप्त होगा ...... इत्यादि इत्यादि । आशा है भगवद्भक्तजन "श्रेय" का यथोचित आदर करेंगे ।

पुरुषार्थ के नियम

उद्देश्यः—

"पुरुषार्थ" का उद्देश्य अपवर्ग-धर्म अर्थ, काम, मोक्ष के स्वरूप का लेखों द्वारा निरूपण और उनके लिये जनता को पुरुषार्थ परायण बनाने का प्रयत्न करना है।

प्रबन्ध के नियमः—

(१) "पुरुषार्थ" प्रतिमास पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारतवर्ष में ३) और वी० पी० द्वारा ३।=) है। और विदेशों के लिये ४॥) है। एक संख्या का मूल्य।-) है। नमूना का पत्र।-) मिलने पर भेजा जाता है।

(३) एक वर्ष से कम के लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते हैं। "पुरुषार्थ" का वर्ष आषाढ़ से प्रारम्भ होता है और वर्ष के बीच में ग्राहक बनने वालों को वर्षके प्रारम्भ से ही ग्राहक बनाया जाता है।

(४) यदि किसी मास में "पुरुषार्थ" किसी के पास न पहुँचे तो अपने यहाँ के डाकघर के इसके विषय में पूँछकर डाकघर के उत्तर के साथ हमारे पास अगले अंक के निकलने के एक सप्ताह पूर्व तक सूचना भेजनी चाहिये तभी वह अंक दुबारा बिना मूल्य भेजा जा सकेगा।

(५) यदि किसी को थोड़े दिनों के लिये अपना पता बदलना हो तो उसे अपने डाकघर के पोस्टमास्टर से प्रबन्ध करलेना चाहिये। स्थायी रूप से पता बदलने के लिये सूचना हमारे कार्यालयमें महीने की शुक्ला पंचमी तक आ जानी चाहिये।

(६) पत्र व्यवहार करते समय ग्राहकों को अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये अन्यथा उत्तर में असुविधा होगी।

लेख सम्बन्धी नियमः—

(१) धर्म, ज्ञान, दर्शन, उपासना, साधना इत्यादि विषयों पर, विशेषतः श्रौतस्मार्त्त धर्म एवं उमा-महेश्वर की सनातन उपासना के सम्बन्ध में, पुरुषार्थ-तत्त्व-प्रतिपादक, आक्षेप रहित लेख ही "पुरुषार्थ" में प्रकाशनार्थ आने चाहिये। लेखों को घटाने बढ़ाने और प्रकाशित करने अथवा न करने का अधिकार सम्पादक को है।

(२) "पुरुषार्थ" में प्रकाशित लेखों के मत के लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।

(३) अमुद्रित लेख बिना माँगे वापस नहीं किये जाते।

(४) लेख और तत्संबन्धी पत्र संपादक के पास आने चाहिये।

विशेषः—

(१) ग्राहकों को अपना नाम, पता तथा ग्राहकसंख्या साफ़ साफ़ लिखनी चाहिये।

(२) पत्रोत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) पत्र का वार्षिक मूल्य मनीआर्डर द्वारा भेजने में ही हम को तथा ग्राहकों को सुविधा है। वी० पी० द्वारा पत्र मँगाने में असुविधा और बिलंब होता है।

(४) पत्र का मूल्य तथा प्रबन्ध सम्बन्धी चिट्ठी पत्री इत्यादि व्यवस्थापक "पुरुषार्थ" के नाम आना चाहिये।

(५) मनीआर्डर के कूपन पर, रुपयों की संख्या, रुपये भेजने का प्रयोजन, ग्राहक नम्बर, पूरा पता इत्यादि सब आवश्यक बातें अवश्य लिखनी चाहिये।

विज्ञापन सम्बन्धी नियम के विषय में व्यवस्थापक "पुरुषार्थ" से पत्र व्यवहार किया जाय।

व्यवस्थापक 'पुरुषार्थ' गोंडा, (अवध)।

Registered No. A 2566.

श्रीकृष्णविहारी सेठ के प्रबन्ध से, सेठ-प्रिंटिंग-प्रेस, गोंडा में मुद्रित तथा पं० शान्तिप्रसाद शुक्ल द्वारा, "पुरुषार्थ" कार्यालय गोंडा, से प्रकाशित।